समता कथा माला पुष्पांक-4

वह पाँव और ये पाँव

आचार्यश्री नानेश

lerk
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
lerk Hkou] chdkusj jkt-

❖ समता कथा माला पुष्पांक - 4

❖ वह पाँव और ये पाँव

❖ आचार्य श्री नानेश

❖ प्रथम संस्करण : अप्रैल, 2010, 3100 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण : अप्रेल, 2012, 1100 प्रतियाँ

❖ मूल्य : 10/-

❖ अर्थ-सहयोगी :
श्री किरणदेवी झाबक-कोलकाता

❖ प्रकाशक :
श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, आचार्य श्री नानेश मार्ग
श्री जैन पी.जी.कॉलेज के सामने, बीकानेर-334401 (राज.)
दूरभाष : 0151-2270261, 3292177, (Fax) 2270359
visit us : www.shriabsjainsangh.com
e-mail : absjsbkn@yahoo.co.in

❖ आवरण सज्जा व मुद्रक :
तिलोक प्रिंटिंग प्रेस, बीकानेर
दूरभाष : 9314962475

प्रकाशकीय

महिमा मण्डित स्व. आचार्य-प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के रतलाम चातुर्मास में सन् 1988 में उन्हीं के तत्वावधान में जैन सिद्धांत विश्वकोष का लेखन कार्य प्रारम्भ हुआ। उसी के कथा खण्ड में अनेक कथाओं का भी संयोजन हुआ है। कुछ तकनीकी स्थितियों से उक्त कोष का प्रकाशन कार्य अब तक संभव नहीं हो पाया। कथा से आबाल वृद्ध को सात्विक प्रेरणा प्राप्त होती है। हर वर्ग उसे रूचि से पढ़ता है। इसलिए कोष में संयोजित कथाओं के प्रकाशन का निर्णय लिया गया। इस लेखन-सम्पादन में श्री शांतिलालजी मेहता कुम्भागढ़, चित्तौड़गढ़ के अथक परिश्रम को भी नहीं भुलाया जा सकता।

उपरोक्त पुस्तक समता कथा माला पुष्पांक-4 के रूप में आप सभी के समक्ष प्रस्तुत है।

इस पुस्तक के प्रकाशन में अर्थ सहयोगी के रूप में श्रीमती किरणदेवी झाबक-कोलकाता ने जो सहयोग प्रदान किया है। उसके लिये संघ आपका आभारी है।

राजमल चौरड़िया
संयोजक-साहित्य प्रकाशन समिति
श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

अर्थ सहयोगी परिचय

प्रत्येक मनुष्य की यह प्रबल ईच्छा होती है कि वह ऐश्वर्य सम्पन्न एवं आर्थिक स्थिति से सुदृढ़ हो। लेकिन बिरले ही होते है जो इन भौतिक सुखों को त्यागकर सत्य की खोज में निकल पड़ते है। ऐसे ही धनी विचारों के व्यक्तित्व बीकानेर निवासी कोलकाता प्रवासी प्रसिद्ध कपड़ा व्यवसायी श्री पफागुलालजी झाबक थे। 53 वर्ष पूर्व आपने जयपुर में सांसारिक सुखों का त्यागकर संयम जीवन को अंगीकार किया। जो आगे चलकर आचार्य कल्पश्री 108 श्रुतसागरजी म.सा. के नाम से प्रसिद्ध हुए। आपकी धर्म सहायिका श्रीमती बसंतीदेवी जिन्होंने गृहस्थ में रहते हुए भी संयममय जीवन जीया।

सांसारिक जीवन में आपके तीन पुत्रा स्व. श्री माणकचंदजी, स्व. श्री हीरालालजी एवं श्री पदमचंदजी तथा तीन पुत्रियाँ श्रीमती उमरावदेवी-भंवरलालजी रामपुरिया-उज्जैन एवं श्रीमती ममोलदेवी -श्री उदयचंदजी धाड़ेवा-कोलकाता, तीसरी पुत्री जिन्होंने संयम जीवन को धारण किया जो आगे चलकर श्रुतमति माताजी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

श्री फागूलालजी के संयमी जीवन अंगीकार करने के पश्चात् सम्पूर्ण परिवार का दायित्व ज्येष्ठ पुत्रा स्व. श्री माणकचंदजी के कंधों पर आ गया। द्वितीय पुत्र श्री हीरालालजी झाबक कर्मठ, उदारशील, सौम्य स्वभावी, सरल हृदयी व्यक्तित्व के धनी पुरुष थे। लेकिन अल्प आयु में ही आपका स्वर्गवास सन् 1983 में हो गया। आप अपने पीछे धर्मपत्नी श्रीमती किरण देवी एवं एक पुत्र आलोक एवं पुत्री सुप्रभा सहित भरा-पूरा संस्कारवान परिवार छोड़ गये।

श्रीमती किरण देवी झाबक, बीकानेर निवासी स्व. श्री सभेयराजजी दस्साणी की सुपुत्री है। जो सरल स्वभावी, स्वाभिमान, दया की प्रतिमूर्ति व धर्म के प्रति अटूट श्रद्धा रखने वाली महिला है।

जिन्होंने अपने पति के स्वर्गवास के पश्चात् अनेकों संघर्ष एवं परिवार का दायित्व निर्वहन करते हुए अपने पुत्रा एवं पुत्री को आत्मनिर्भर एवं संस्कारवान बनाया। आपके सुपुत्र श्री आलोकजी का विवाह समाजसेवी, प्रसिद्ध उद्योगपति श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर के पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री सुन्दरलालजी दुगड़ की सुपुत्री रूपरेखा के साथ सम्पन्न हुआ। श्रीमती किरणदेवी ने अपने जीवन में अनेकों व्रत एवं त्याग को अंगीकार किया हैं।जैसे रात्रि भोजन का त्याग, एकासना व्रत, चौविहार, 5 पौषध, प्रतिदिन 4 घंटे मौन एवं प्रतिदिन सामायिक, प्रतिक्रमण तथा साधु-संतों की सेवाओं हेतु तत्पर रहने वाली साधिका है।आपने अपने जीवन में तप के गुण को धारण किया हुआ है।आपने 8, 9 एवं 10 तक की तपस्याएँ सम्पन्न की। पूज्य गुरुदेव के हावड़ा चातुर्मास में आपने चार माह तक चौका लगाकर सेवा का संकल्प दोहराया। आपके धार्मिक क्रियाकलापों एवं सामाजिक दायित्वों में आपके पुत्र आलोक एवं पुत्रवधु श्रीमती रूपरेखा की हमेशा ही सहभागिता रहती है। आपके पौत्रा जीत एवं पौत्री गूंजन भी आपके परिवार की यश एवं कीर्ति को आगे बढ़ायेंगे।

श्री आलोकजी झाबक, कोलकाता में भवन निर्माण कार्य में संलग्न है।अपने मधुर व्यवहार, कार्य दक्षता, संघ सेवा के लिये सम्पूर्ण क्षेत्र में विख्यात है।इस प्रकार हम यही कह सकते हैं कि सम्पूर्ण झाबक परिवार देव गुरु धर्म के प्रति आस्था रखने वाला सुसंस्कारित एवं धार्मिक परिवार है।जिन्होंने सदैव ही सामाजिक एवं धार्मिक जीवन का दायित्व बहुत ही निष्ठा के साथ निभाया।हम आचार्य प्रवर से यही प्रार्थना करते है कि आपका सम्पूर्ण परिवार स्वस्थ एवं शतायु हो, आपकी असीम श्रीवृद्धि की कामना करते हैं तथा यही आशा करते है कि भविष्य में भी इसी तरह आपका सहयोग प्राप्त होता रहेगा।

अनुक्रमणिका

सुंसुमा का मृत शरीर	:	7
रक्त की नदी और अंगारों की वर्षा	:	19
बिजली भी क्यों बंध जाती है ?	:	30
वह पाँव और ये पाँव	:	41
तैर रही है मेरी नॉव	:	52
सुवर्ण प्रतिमा के भीतर	:	61
चावल के पाँच दाने	:	76
यात्रा लौह से रत्न तक	:	84
कैसी थी घोड़े की पीठ ?	:	92
आप भी अनाथ तो नहीं	:	101
अपने बोये हुए काटे	:	107

d सुंसुमा का मृत शरीर d

0 0 0 0 0 0

और सुंसुमा का यह मृत शरीर क्या मोक्ष का प्रतीक भी नहीं कहा जा सकता ? उसके ही पिता-पुत्रों ने अपनी प्राण-रक्षा की उसके मांस और रुधिर के आहार से। क्या अन्तर्भाव है उनके इस कृत्य का ?

0 0 0 0 0 0

तनिक इधर तो आओ, चिलातीपुत्र ! धन्य सेठ ने अतीव मृदुल स्वर में अपने सेवक को पुकारा।

राजगृह नगरवासी धन्य सेठ स्वभाव से ही सौम्य, सरल एवं सत्यवादी था। उसकी धर्मपत्नी भद्रा भी सुस्वभावी, धीर और विश्वास की स्वामिनी थी। उनके पाँच पुत्र-धन, धनपाल, धनदेव, धनगोप तथा धनरक्षित एवं एकमात्र पुत्री सुंसुमा थी। वह देह से अति सुडौल और रूपवती थी। सुंसुमा के लिए ही धन्य सेठ ने अपने सेवक को पुकारा था।

आज्ञा कीजिए, मेरे स्वामी !- हाथ बांधे चिलाती

तुरन्त ही सेठ के सामने आ खड़ा हुआ।

धन्य ने उसे समझाते हुए कहा- देखो चिलाती ! अब तक तुम मेरे पुत्रों को बाहर भली प्रकार खेल-कूद कराते व उनका पूरा ध्यान रखते रहे हो, पर अब मेरी प्यारी और इकलौती पुत्री सुंसुमा भी बाहर खेलने लायक हो गयी है। तो उस को भी बाहर ले जाया करो, लेकिन उसका विशेष रूप से ध्यान रखना।

स्वामी ! क्या कभी कोई बालक मुझसे रुष्ट हुआ है ? मैं उन्हें अपने जीव के समान ही समझता हूँ और उन्हें किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं होने देता हूँ। आप निश्चिंत रहे- मैं सुंसुमा को अधिक प्यार और परवाह से खेलने ले जाऊँगा तथा उसका खास ध्यान रखूंगा।

चिलाती के कथन से सेठ ने सन्तोष की सांस ली। उस दिन से चिलाती सुंसुमा को भी बाहर खेलकूद कराने के लिए ले जाने लगा। किन्तु एक बात और भी हुई। अपने प्रति सेठ के ऐसे स्नेह और विश्वास को देखकर वह फूला नहीं समाया। उसे सेठ की परम कृपा मान वह कुछ-कुछ उद्दंड सा होने लगा- आखिर वह था तो दासी पुत्र ही। उसने मान लिया कि अब उसे किसी पड़ोसी या अन्य व्यक्ति से डरने की जरूरत नहीं है।

ऐसा मान लेने से चिलाती के स्वभाव में एक विचित्र-सी प्रतिक्रिया हुई- उसकी बढ़ती हुई उद्दंडता में

एक लज्जाहीन निडरता भी आने लगी। वह अब पड़ोसियों, अन्य श्रेष्ठियों तथा नागरिकों के बच्चों के साथ गलत छेड़छाड़ करने लगा। वह उन्हें परेशान करता, कभी किसी का वस्त्र चुरा लेता, तो कभी किसी का आभूषण, खिलौना या अन्य कोई पदार्थ। बच्चे ज्यादा परेशान होने लगे, तो उन्होंने इसकी अपने माता-पिताओं से शिकायत की। माता-पिता कुछ अधिक परेशान हुए, तो उन्होंने धन्य सेठ से शिकायत की, धन्य सेठ द्वारा अपने सेवक को समझा-बुझा देने का आश्वासन पाकर वे सन्तुष्ट हो गये।

किन्तु चिलाती की गलत हरकतें बन्द नहीं हुईं, बल्कि वे तो बढ़ती ही रहीं। उसके मन में सेठ की कृपा का भरोसा जो था। उसकी चोरियाँ बढ़ीं, तो उसकी आदतें भी बिगड़ने लगीं। अब वह अधिकतर मूल्यवान आभूषण और वस्तुएँ ही चुराता। उन्हें गुप्त रूप से बेचकर वह पर्याप्त धन प्राप्त कर लेता और उस धन से वह नशीले पदार्थों का सेवन करता या मदिरा पान करता। इस बुरी आदत ने कई दूसरी बुरी आदतों को जन्म दिया और ध ीरे-धीरे चिलाती विकृत एवं क्रूर बनने लगा।

उधर पड़ोसियों एवं अन्य नागरिकों में धन्य सेठ के सेवक चिलाती के प्रति असन्तोष भीषण रूप से बढ़ने लगा। वे ऐसे सज्जन सेठ के मुँह-दर-मुँह आक्रोश व्यक्त नहीं करना चाहते थे, किन्तु चिलाती की बढ़ती हुई

दुष्प्रवृत्तियों से वे विवश हो गये और एक दिन एकत्रित होकर धन्य सेठ की हवेली पर पहुँचे।

मेरा बड़ा सौभाग्य है कि आप सब लोगों का एक साथ मेरे यहाँ पधारना हुआ है? योग्य सेवा फरमाइए- धन्य सेठ ने भावपूर्वक अभ्यर्थना की।

सबने खेदपूर्वक अपना अभियोग सुनाया- श्रेष्ठिवर ! हम आप तक पहुँचने के लिए विवश हो गये थे। आपका सेवक चिलाती उद्दंड, चोर और बदमाश हो गया है तथा उसके उपद्रवों से हमारे बच्चे और हम बहुत ज्यादा परेशान हो गये हैं। आपको कुछ कठोर उपाय करना होगा।

सेठ ने लज्जा का अनुभव किया और सबके सामने चिलाती को बुलाकर आदेश दिया- दासी पुत्र, तुम मेरे स्नेह के अयोग्य और नीच साबित हुए हो, जिससे सारे समाज के सामने मुझे नीचे देखना पड़ा है। समझाने पर भी तुम समझे नहीं। अब तुम दया के पात्र नहीं रहे। इसी समय मेरी सेवा और हवेली छोड़कर चले जाओ।

चिलाती बेसहारा हो जाने की आशंका से एक बार काँपा, किन्तु जिस विकृति ने उसके मन में घर कर लिया था, उसने वहाँ एक प्रतिशोध की भावना को भी अनजाने में ही जन्म दे दिया। वह मुँह लटकाकर हवेली से बाहर चला गया।

सेठ ने सबसे हाथ जोड़कर कहा- ओ देवानुप्रियों ! आपको जो अब तक कष्ट हुआ, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। सब सेठ के व्यवहार की सराहना करते हुए अपने-अपने घरों को लौट गये।

चिलाती पुत्र को कहाँ लौटना था ? उसका तो कोई घर था नहीं। किन्तु वह भी लौट गया, अपनी अपराध की दुनिया में बेडर और निःशंक होकर, क्योंकि अब उसको कुछ भी कहनेवाला कौन था ? वह स्वच्छंद हो गया।

जीवन का प्रारंभिक धरातल समतल, सरस और उर्वर होता है। आरंभ में उस पर सुसंस्कार के या कुसंस्कार के जैसे भी बीज बिखर जाते हैं, वे ही वहाँ अंकुरित हो जाते हैं। पौधे बन जाते हैं और वृक्षों का बृहदाकार ले लेते हैं। चिलाती की चोरी करने की छोटीसी बुरी आदत बड़ी बनती गयी, क्योंकि उससे उसे धन मिलता गया, उसका लोभ बढ़ता गया और बड़ी चोरियों से विपुल धन मिलने लगा। धन बहुत मिलता, तो उसके दुर्व्यसन बढ़ते जाते। उसके अपराध भयंकर रूप लेते जाते और इस प्रकार वह कुशल चोर, निरंकुश अपराधी एवं क्रूर पुरुष बन गया। वह नगर के गली-कूचों में, मदिरालयों में, जुआरियों के अड्डों में, वेश्यालयों में पड़ा रहता और उस विधि से बड़े-बड़े अपराध करता, पर राज्यकर्मियों के हाथों में नहीं पड़ता।

एक दिन चिलाती ने सोचा- अब उसके अपराधों के लिए यह नगर छोटा पड़ने लगा है, इसलिए उसे गहन वन में जाकर कुछ ऐसा करना चाहिए, जिससे उसका आतंक चारों ओर फैल जाय। उसके मन के एक कोने में धन्य सेठ के अपमान का बदला चुकाने की हल्कीसी दुर्भावना भी उठी। उसने सुन रखा था कि नगर की दक्षिणपूर्व दिशा में सिंह गुफा नाम की एक चोर पल्ली है, जिसका स्वामी है विजय नामक एक चोर सेनापति। क्यों नहीं वह उसी के पास चला जाये और अपने दुस्साहस के खेल खुलकर बड़े पैमाने पर खेले ?

बड़े सबेरे वह नगर से बाहर निकल पड़ा और दक्षिण पूर्व दिशा में चलने लगा। चलते-चलते वह सघन वन में घुसा। बांस की ऊँची-ऊँची झाड़ियों से वहाँ प्रकाश अवरुद्ध था। अनेक झरनों, खड्डों और घाटियों को पार करते हुए अंधेरे में वह आगे बढ़ता रहा। दूर से जब उसे पल्ली के निशान दिखायी देने लगे, तो वह ताज्जुब करने लगा उस पल्ली की बसाहट और स्थिति पर। एक बार तो राजा की पूरी सेना आ जाये, तो वह भी भटक जाये और चोरों के हाथों मात खा जाय।

चिलाती सावधानी से आगे बढ़ता हुआ सीधा विजय चोर के पास पहुँचा। विजय अत्यन्त क्रूर और शूर था। वह प्रहार करता, तो ऐसा, जिसे उसका कैसा भी प्रतिद्वन्द्वी सहन नहीं कर पाता। वह सारे अन्यायी,

अत्याचारी और कुटिल लोगों का आश्रयदाता था। उसके अधीन पाँच-सौ कुटिल अपराधी उसकी पल्ली में रहते थे। उसने चिलाती को भी आश्रय दे दिया। कुछ ही दिनों में उसने पहिचान कर ली कि चिलाती उसके लिए बड़ा ही काम का आदमी है। धीरे-धीरे चिलाती विजय का सर्वाधिक विश्वस्त व्यक्ति हो गया। विजय उसे नहीं छोड़ता और एक दिन विजय चोर मृत्यु को प्राप्त हो गया। तब सबने मिलकर चिलाती को ही नया चोर सेनापति बना दिया।

लोभ से अनर्थ और अनर्थ से अपराध की दुनिया में कितने गहरे पहुँच गया था, निर्दोष बच्चों को रमानेवाला सेवक चिलातीपुत्र ? अब तो उसने मन में धन्य सेठ से अपने अपमान का कठोर बदला लेने का दुर्भाव उमड़ने-घुमड़ने लगा। तब वह शान्त न रह सका। उसके अपने पल्लीवासियों को भोज पर एकत्रित किया तथा उनके सामने यह प्रस्ताव रखा- मेरे साहसी साथियों, हमें एक ऐसा बड़ा अपराध करना चाहिए कि हमारी धाक और हमारा आतंक सारे राज्य में फैल जाये। राजगृह में धन्य सेठ के पास अपार धन, सोना और हीरा-मोती हैं। मैं चाहता हूँ कि लूट का सारा धन तुम मिलकर बाँट लो, मैं कुछ भी नहीं लूँगा। मैं तो केवल उसकी युवा पुत्री सुंसुमा को अपने पास रखूंगा। इस प्रस्ताव से सभी चोरों के चेहरे खिल उठे- हिम्मत सेनापति की और सारा लूट का माल

उनका। इस बड़ी चोरी की सारी तैयारियाँ जल्दी ही पूरी कर ली गयीं और एक रात दबे-पाँव चोरों का दल धन्य सेठ की हवेली के बाहर पहुँच गया।

चिलाती ने ताला खोलने की विद्या का आह्वान किया और मंत्रित जल तालों पर छिड़का। बिना आवाज किये सारे ताले खुल गये और चोर हवेली में घुस पड़े। उस आकस्मिक भयंकर आक्रमण से धन्य सेठ भयभीत होकर कहीं छिप गया, पुत्र भी छिप गये, पर पुत्री सोई हुई होने के कारण शीघ्र अपनी आत्मरक्षा न कर सकी और चिलाती के हाथ पड़ गयी। चोरों ने मनमाना धन लूटा। लूट का माल और सुंसुमा को साथ लेकर चोरों का दल अपनी पल्ली की ओर लौट पड़ा।

धन्य सेठ के दुःख का पार नहीं था। उसे अपनी सम्पत्ति से ही नहीं, अपनी प्यारी पुत्री से भी हाथ धोना पड़ा था। वह पुत्रों सहित राजा के पास पहुँचा। उसने अपनी दुःखभरी गाथा कही। राजा ने भी तुरन्त एक सैन्यदल को चोरदल का पीछा करने का आदेश दिया। सेठ और उसके पुत्र भी सैन्यदल के साथ गये कि किसी भी उपाय से सुंसुमा को चोरों से मुक्त कराया जा सके।

चोरदल ने जब देखा कि एक विशाल सैन्यदल उनका पीछा कर रहा है, तो वे वहीं रुक गये और उन्होंने सैन्यदल से लड़ने का निश्चय किया। दोनों दलों में भीषण युद्ध हुआ। चोरदल तितर-बितर हो गया और

चिलाती के लिए भाग खड़े होने की नौबत आ गयी। उसने सुंसुमा को कंधे पर डाला और गहन वन में दूर से दूर भागने लगा। उसे इस तरह भागते देखा सेठ और उसके पुत्र भी उसके पीछे-पीछे भागने लगे।

चिलाती ऐसे बीहड़ वन में पहुँच गया, जहाँ चारों ओर बियावान ही बियावान था। वह थककर चूर हो गया था और तीव्र प्यास से उसका कंठ रुंध रहा था, क्योंकि कहीं भी उसे जल नहीं दिखायी दिया था। सुंसुमा का भार ढोना तब उसके लिए असह्य हो गया, जबकि सेठ और उसके पुत्र उसका बराबर पीछा कर रहे थे। उसे कुछ नहीं सूझा, उसने अपनी तलवार से उस कोमल कन्या का सिर काट डाला। धड़ वहीं डाल और सिर ले वह आगे भाग गया। आगे क्या था, उस अटवी में वह मार्ग भूल गया न वह चोरपल्ली तक पहुँच पाया, न सिंह गुफा तक और प्यास के मारे उसके प्राण ही निकल गये।

धन्य सेठ ने जब अपनी परमप्रिय पुत्री सुंसुमा का सिरकटा मृत शरीर देखा, तो वह अपार शोक से विह्वल हो उठा। उसके पुत्र भी उग्र विलाप करने लगे। थकान और प्यास ने उन्हें भी बेदम बना दिया था। किसी तरह उठकर वे जल की खोज करने लगे, किन्तु कहीं भी जल नहीं मिला। अब तो सभी को अपने सामने मृत्यु दिखायी देने लगी। इस पर धन्य सेठ ने अपने पुत्रों से कहा- हे पुत्रों ! आज हमारा दुर्भाग्य चरम सीमा लांघ रहा

है कि सम्पत्ति गयी, प्यारी पुत्री भी गई और हमारा सबका जीवन घोर संकट में है। भोजन नहीं, जल नहीं और जीवन-रक्षा की आशा नहीं, सिवाय एक बात के। मैंने निर्णय लिया है कि तुम सब मुझे जीवनरहित कर दो तथा मेरे शरीर के रुधिर और मांस का आहार करके कुछ शक्ति पा लो तथा घर को लौट जाओ। घर पहुँचकर शेष कुटुम्ब का रक्षण करो और पुण्य के भागी बनो।

पिता के प्रस्ताव पर पुत्र चौंक उठे। संभलकर ज्येष्ठ पुत्र ने आग्रह किया कि आप पूज्य पिता हैं, शेष मेरे अनुज, अतः मुझे ही जीवनरहित होने का अवसर दीजिए। यों एक-एक पुत्र अपने जीवन का अन्त और शेष सबका रक्षण करने के लिए तत्पर हो उठा। कठिन समस्या उत्पन्न हो गयी कि कौन अपने प्राण त्यागे- इस हेतु प्रत्येक व्यक्ति तैयार था। निराश, म्लान और खेदग्रस्त पिता ने ही तब भारी मन से एक सुझाव दिया- यहाँ मात्र प्राण-रक्षा का प्रश्न है, जीवन में किसी की आसक्ति का नहीं और रक्षा का साधन है सिर्फ माँस और रुधिर का आहार। एक अन्य समाधान यह है कि तुम्हारी बहिन मर तो चुकी ही है और उसका मृत शरीर यहाँ पड़ा है। तो प्राण रक्षा के लिए इसी का आहार कर लेना चाहिए। घोर दुःख के साथ पुत्रों ने इस सुझाव को स्वीकार किया।

पिता-पुत्र घर लौटे, स्वजनों से मिले एवं सुंसुमा का लौकिक मृत-कृत्य किया।

राग-द्वेष के अनेक आवरणों से घिरकर और लोभ के अनर्थकारी दुष्परिणाम के फलस्वरूप चिलाती ने घोर दुष्कृत्य किया- सुंसुमा का बलात् अपहरण और सुंसुमा सांसारिक अत्याचार एवं प्रताड़ना की शिकार बनी। उसका मृत शरीर संसार के ऐसे जघन्य स्वरूप को क्या उसकी घिनौनी नग्नता उघाड़ कर नहीं बता रहा है ? कैसा है संसार, क्या है संसार- देखो सुंसुमा के मृत शरीर को और निर्धारित करो कि इस संसार में सबको-आपको क्या करना है ? नग्न सत्य-दर्शन के बिना अन्तर्मन का विवेक कहाँ जागृत होता है ?

और सुंसुमा का यह मृत शरीर क्या मोक्ष का प्रतीक भी नहीं कहा जा सकता ? उसके ही पिता-पुत्रों ने अपनी प्राण-रक्षा की उसके मांस और रुधिर के आहार से। क्या अन्तर्भाव है उनके इस कृत्य का ? क्या अपनी ही पुत्री और भगिनी के मृत शरीर का मांस और रुधिर खाया-पिया जा सकता है ? यह आहार के किस भाव का सूचक है ? यह सूचक है इस तथ्य का कि गृद्धि, स्वाद, रुचि से एकदम रहित होकर अपवाद मार्ग में प्राण रक्षा के लिए जिस समभाव से पिता-पुत्रों ने वह आहार किया, उसी भाव से एक साधु को अपना आहार करना चाहिए, केवल जीवन रक्षा के लिए कि संयम धर्म का पालन अडिग वृत्ति से किया जाता रहे, क्योंकि ऐसे ही भाव में मोक्ष का निवास होता है।

और सुंसुमा के मृत शरीर की गूंज धन्य सेठ के अन्तर्हृदय में ऐसी समाहित हुई कि भगवान महावीर की धर्म देशना श्रवण करके वह और उसके पुत्र जैन, सम्यक्त्वी या श्रावक ही नहीं बने, बल्कि वैराग्याभिभूत होकर उन्होंने श्रमण धर्म ही अंगीकार कर लिया। संयम और तप का कठोर अनुपालन करते हुए उन्होंने अपना जीवन धन्य बना लिया। ग्यारह अंगों का अध्ययन कर मासिक सलेखना द्वारा अंतिम समय में आत्मा को शुद्ध बनाते हुए सौधर्म कल्प में उत्पन्न हुए। वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध यावत् सर्व-दुखों का अन्त करेंगे।

स्रोत - ज्ञताधर्म कथा सूत्र 18 वाँ अध्ययन

सार- (1) लोभ-अनर्थ कितना भयंकर स्वरूप ग्रहण कर लेता है, अतः आरंभ से ही लोभ को दूर रखना चाहिए।

(2) धन्य सेठ के समान अनासक्त होकर साधु को केवल मोक्ष प्राप्ति के हेतु ही आहार ग्रहण करना चाहिये।

❖ ❖ ❖

रक्त की नदी और अंगारों की वर्षा

0 0 0 0 0 0

दुष्ट व्यक्ति के मन में सद्विचार सरलता से कहाँ आता है? और दुष्ट व्यक्ति जब अहंकार और प्रतिशोध की मदिरा पीकर पागल हो रहा हो, तो सद्विचार के जन्म की आशा तक व्यर्थ होती है।

0 0 0 0 0 0

एक सद्भावी और सदाचारी व्यक्ति सदा इस प्रयत्न में रहता है कि वह सद्भाव और सदाचार का अधिकतम विस्तार करे, जिससे प्राप्त होने वाले आन्तरिक आनन्द का लाभ अधिकतम प्राणियों को मिल सके। यही कारण है कि वैसा व्यक्ति, अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को सद्भाव और सदाचार की दिशा में अग्रसर होने की प्रेरणा देना चाहता है। यह उसका तो सद्भाव होता है, किन्तु जिनके मन में अहंकार का दुर्भाव होता है, वे उसे विपरीत अर्थ में लेते हैं। वे समझते हैं कि वह उन्हें सिखा रहा है। अधिकांश रूप में तो अहंकारी ऐसे समझाने की प्रतिक्रिया में प्रतिशोध की मजबूत गांठ

बांध लेते हैं। ऐसे व्यक्तियों के बीच सद्भावी और सदाचारी पुरुष था स्कन्दक और दुर्भावी था पालक।

श्रावस्ती के राजा जितशत्रु का पुत्र था राजकुमार स्कन्दक, जो तेजस्वी, धर्मप्रेमी तथा विचारवान था। उसने मुनिसुव्रत स्वामी की धर्म-देशना सुनकर श्रावक व्रतों को स्वीकार किया था। उसकी बहिन पुरन्दरयशा का विवाह कुंभकारकटक के राजा दंडकी के साथ हुआ था। जैसा दंडकी धर्मद्वेषी और अहंकारी था, उसका पुरोहित पालक उससे भी बढ़कर था।

एक बार पालक श्रावस्ती आया, तो उसे राज्य-सभा में सम्मानित किया गया। राज्य-सभा में स्कन्दक भी बैठा हुआ था। यौवन की देहरी पर पाँव रखते-रखते वह धर्मशास्त्रों के ज्ञान में भी निपुण हो गया था- निपुण भी इतना कि किसी भी शास्त्रज्ञ से सफल ध र्मचर्चा कर सके अथवा किसी अल्पज्ञ को धर्म का मर्म समझा सके। स्कन्दक ने पूरे सद्भाव के साथ पालक के साथ धर्मचर्चा छेड़ी। पालक धर्म-निन्दक तो था ही, उसने जैन मुनियों की, निंदा की जिससे दोनों के बीच चर्चा में बारीकी भी आयी, तो गरमी भी। स्कन्दक ने मृदुता के साथ धर्म-सिद्धान्तों का सुबोध विवेचन किया, तो विनय के साथ पालक की एक-एक कुतर्क का सचोट उत्तर भी दिया। पालक ने अनुभव किया कि चर्चा में वह पराजित हो गया है।

पालक के इस अनुभव ने घातक रूप ले लिया। उसके अहंकार का सर्प भीतर ही भीतर फन फैलाकर फुंकार करने लगा। उसने महसूस किया कि इस प्रकार उसे भयंकर रूप से अपमानित किया गया है। मन ही मन उसने प्रतिशोध की कठिन गांठ बांध ली कि समय आने पर वह इस अपमान का भरपूर बदला लेगा। ''एक तो करेला और इस पर नीम चढ़ा।'' धर्मद्वेषी तो वह पहले ही था, अब प्रतिशोध के अशुभ संकल्प से अपने मन को मथने लगा। बंधी गांठ लेकर वह कुंभकारकटक लौट गया।

राजकुमार स्कन्दक के मन में कटुता जैसा न कुछ था और न कुछ रहा। वह तो अपनी धर्मनिष्ठा में तल्लीन होता गया। सौभाग्य से बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनि सुव्रतस्वामी का वहाँ पदार्पण हुआ। वैराग्य से अनुप्रेरित होकर तब स्कन्दक ने अपने पांच सौ साथियों के साथ भगवान के समीप दीक्षा अंगीकार कर ली और वे ग्रामानुग्राम विचरण करते रहे।

एक समय मुनि स्कन्दक ने भगवान की सेवा में पहुँचकर निवेदन किया- प्रभु, कुंभकारकरटक की ओर बिहार करने का मेरा विचार बन रहा है। मेरी इच्छा है कि मेरे बहेनोई को मैं प्रतिबोध दूँ, जिससे बहिन-बहनोई धर्ममार्ग पर चलकर आत्मकल्याण साध सकें। इसके लिए मैं आपसे अनुमति की प्रार्थना करता हूँ।

भगवान् केवल ज्ञानी थे, भविष्य की ओर दृष्टि

डालकर उन्होंने फरमाया- स्कन्दक, वहाँ तुम्हें अति भयंकर उपसर्ग होगा- इतना भयंकर कि वह तुम सब साधुओं के प्राण ही ले लेगा।

भगवन आपकी सत्शिक्षाओं ने मेरे मन से मृत्यु का भय दूर हटा दिया है, अतः इस की चिन्ता नहीं। किन्तु एक प्रश्न है कि हम संयम के विपराधक तो बने रहेंगे न, स्वामी? मुनि स्कन्दक ने क्षत्रियोचित वीरत्व-भाव से निवेदन किया एवं पूछा।

भद्र, कर्मों की गति को कोई नहीं टाल सकता। तुम्हारे साथी पाँच सौ ही मुनि संयम के आराधक बने रहेंगे, किन्तु तुम नहीं रह पाओगे। नियति यही है- प्रभु बोले।

भगवन्, कर्म-गति यदि ऐसी ही है, तो मैं उसका पूरी संयम-निष्ठा के साथ सामना करने का प्रयत्न करूंगा और चाहूँगा कि धर्म-प्रभावना का कार्य श्रेष्ठ रीति से सम्पादित हो। यों भगवान की आज्ञा लेकर मुनि स्कन्दक अपने पाँच सौ मुनि साथियों के साथ कुंभकारकटक की ओर प्रस्थान कर गये। वहाँ पहुँच वे नगर से बाहर एक उद्यान में ठहर गये।

जब स्कन्दक मुनि के आगमन की सूचना पालक को मिली, तो प्रतिशोध लेने के लिए, उसका मन पागल हो उठा। तब वह षड्यंत्र रचने लगा कि कैसे क्या किया

जाये ? वह जानता था कि राजा दंडकी की उसके साथ विचार-समानता है, परन्तु वह यह भी समझता था कि साले-बहनोई का सम्बन्ध कभी उस विचार-समानता से भी ऊपर उठ सकता है और उसकी सारी योजना को मिट्टी में मिला सकता है। अतः योजना ऐसी बनायी जाये कि राजा आरंभ से ही उसके साथ हो। उसने कोई गहरी चाल चलने का इरादा किया। फिर तदनुसार सारी व्यवस्था की और तब वह राजा दंडकी की सेवा में प्रस्तुत हुआ।

पालक ने बड़े भोलेपन से विषय को छेड़ा- राजन, क्या आपको विदित है कि आपका साला स्कन्दक अपने पाँचसौ साथियों के साथ आपको परास्त करने एवं आपका राज्य हस्तगत करने के लिए आया हुआ है ?

दंडकी ने कुछ क्रोध के साथ कहा- क्या मूर्खता की बात करते हो, पालक ! जिसने अपना स्वयं का राज्य भी त्याग दिया, वह भला मेरे राज्य को क्यों हस्तगत करना चाहेगा ?

यही तो आपका भोलापन है और स्कन्दक का कुटिल आचरण कि जिसे आप समझ नहीं पा रहे हैं, राजन ! मुनि बनना स्कन्दक का ढोंग मात्र है और उसके पाँचसौ साथी मुनि नहीं, अपितु कुशल योद्धा हैं। इसकी पुष्टि मेरे एक गुप्तचर की सूचना से होती है, स्वामी ! कि युद्ध के लिए स्कन्दक ने भारी मात्रा में अस्त्र-शस्त्र पहले से ही उद्यान में गड़वा दिये थे, ताकि समय पर

उनका उपयोग हो सके। सूचना सही है या नहीं- इसकी जाँच तो आप स्वयं कर सकते हैं और मैं भी साथ चलता हूँ। तब सत्यासत्य का निर्णय हो जायेगा और आप यह भी निर्णय ले सकेंगे कि इन शत्रुओं के साथ कैसा व्यवहार किया जाये- पालक ने ऐसा पासा फेंका, जिसके विफल होने का कोई अवसर नहीं था। अस्त्र-शस्त्र उसी ने गुप्त रीति से गड़वाये थे और वह जानता था कि उसकी चाल का असर अकाट्य रहेगा।

रात के अंधेरे में वह राजा को साथ ले गया और गड़े हुए अस्त्र-शस्त्र खुदवाकर बता दिये। राजा ने उसके कथन पर पूरा विश्वास कर लिया और उसी को अधिकार दे दिया कि जैसा भी वह उचित समझे, अपराधियों को दंड दे। अब क्या था, उसकी सभी तरह से बन आयी थी। अब वह अपने अपमान का कठोरतम प्रतिशोध लेकर अपने कलेजे को ठंडा करेगा। दुष्ट व्यक्ति इससे अधिक सोच ही क्या सकता है, कर ही क्या सकता है ?

पालक ने एक इतना बड़ा कोल्हू बनवाया, जिसमें आदमी को पेला जा सके। कोल्हू और क्रूर जल्लादों को साथ लेकर वह उद्यान में पहुँचा। उसने मुनि स्कन्दक को क्रुद्ध स्वर में पुकारा और अभिमानी भाषा में कहा- तू मुझे धर्म समझाना चाहता था न, स्कन्दक ! परमात्मा की भक्तिकराना चाहता था, तो अब तू उसी परमात्मा को बुला ले, क्योंकि उसके सिवाय अब तेरी रक्षा कोई नहीं

कर सकेगा। धर्म सिखाने के बहाने तूने मेरा अपमान किया था, उसका फल भुगतने को तैयार हो जा। यह देख रहा है न, कोल्हू और जल्लाद? ये तेरे साथियों को और तुझे इस कोल्हू में पेलेंगे, रक्त की नदी बहेगी, हड्डियों का ढेर खड़ा होगा, मांस के लोथड़े कौवे और गिद्ध नोचेंगे और मैं खड़ा अट्टहास करूँगा- प्रतीक्षा करूँगा कि तुम्हारा परमात्मा तुम्हें बचाने के लिए आता भी है या नहीं? स्कन्दक, पुकारो अपने परमात्मा को, याद करो अपने धर्म को और मरने के लिए तैयार हो जाओ।

स्कन्दक मुनि ने यह सब शान्तिपूर्वक सुना, सारी परिस्थिति को परखा और समझ लिया कि अब निश्चय ही मरणान्तक उपसर्ग होने ही वाला है। भगवान के वचन उन्हें स्मरण हो आये और उन्होंने विशेष दृढ़ता से अपने संयम को, अपने संयमपूर्ण जीवन को साधा। उन्होंने मधुर वाणी में पालक को उत्तर दिया- पालक ! तुम अब तक भ्रम में रहे हो। न तो कभी मैंने तुम्हारा अपमान या अहित करना चाहा और न ही मैंने तुम्हारा अपमान किया। वह तो तुम्हारा अपना ही अहंकार था। आज भी जो प्रतिशोध के रूप में तुम करना चाह रहे हो, वह भी तुम्हारा अज्ञान ही है। क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य है- यह तुम्हें भली प्रकार सोचना चाहिए। रक्त की नदी बहाने से तुम्हारा हित नहीं होगा, क्योंकि हिंसापूर्ण दुष्कृत्य से किसी का हित नहीं होता। मैं कहना चाहता हूँ कि अब

भी अपने निश्चय पर गंभीरता-पूर्वक विचार करो।

दुष्ट व्यक्ति के मन में सद्विचार सरलता से कहाँ आता है? और दुष्ट व्यक्ति जब अहंकार और प्रतिशोध की मदिरा पीकर पागल हो रहा हो, तो सद्विचार के जन्म की आशा तक व्यर्थ होती है। पालक को भी सद्विचार नहीं आया।

उसने कुविचारपूर्वक मुनि-संहार का कुटिल कार्यक्रम आरंभ करवा दिया। एक एक करके मुनि कोल्हू में पेरे जाते रहे, रक्त की नदी बहती रही और वह राक्षसों की तरह अट्टहास करता रहा। कृत कर्मों की आलोचना, प्रत्यालोचना और संलेखना करते हुए एक-एक धर्मशूर मुनि ने परम शुद्ध भावों के साथ अपनी बलि दे दी। मुनि स्कन्दक भी शान्ति और धैर्य के साथ प्रत्येक मुनि को प्रोत्साहित करते रहे कि उसकी संयमाराधना अक्षुण्ण बनी रहे। इस तरह चार सौ निन्यानवे मुनि कोल्हू में पेर दिये गये, रक्त से धरती लाल हो गयी, हड्डियों का ढेर लग गया और वहाँ गिद्ध व कौवे मंडराने लगे।

मुनि स्कंदक के सिवाय मात्र एक बालवय का साधु शेष था। वह अत्यन्त सुकुमार, सेवाभावी, आज्ञाकारी, चारित्रशील और विनयगुण सम्पन्न था। ज्यों-ही उसे पेरने के लिए ले जाया जाने लगा, मुनि स्कन्दक का हृदय हिल उठा, वह मर्यादा की सीमा रेखा पर डगमगाने लगा। वे बोले- अरे पापी पालक। इस कोमलांग साधु

का वध कराते हुए तो रुक। तू मानता है कि अपमान मैंने किया था, तो मेरे साथ तू चाहे जो व्यवहार कर, पर इसको तो छोड़ दे।

दुष्ट को अपनी दुष्टता दिखाने का नया मौका मिला, कटाक्षपूर्वक पालक बोला- अच्छा ! तो यह बाल साधु तुम्हें विशेष प्रिय है ? तब तो इसका वध अपनी आँखों से देखो और अपने संयम से चलायमान हो जाओ। अब तो इसका वध होने के बाद ही तुम्हारा वध कराया जायेगा।

इतना होने पर भी बालमुनि के मुखमंडल पर शान्ति की उज्ज्वल आभा फैली हुई थी, उसने नम्रतापूर्वक अपने गुरुदेव से निवेदन किया- गुरुदेव, आप मेरे लिए विचलित न हों। मुझे पालक के प्रति कोई क्षोभ नहीं है। आप भी अपनी संयमाराधना पर अडिग रहें। मेरा आपको अन्तिम वन्दन।

बाल मुनि भी कोल्हू में पेर दिये गये। सभी मुनि संयम के आराधक बने। उन्होंने बन मुक्ति को प्राप्त किया। इधर रक्तकी नदी में नया उफान आया, पर उफान मुनि स्कन्दक के मन का भी रुका नहीं। वे सीमा का अतिक्रमण करनेवाले पालक पर बरस ही पड़े- रे दुष्ट, अब सावधान हो जा, तेरे पापों का घड़ा भर चुका है। इसका फल तुझे भी भोगना कठिन पड़ेगा। याद रख ले, मैं तुझे, तेरे परिवार को, तेरे राजा और तेरी इस सारी

नगरी को जलाकर भस्म कर दूंगा।

मुनि स्कन्दक भी कोल्हू में पेर दिये गये और सब कुछ समाप्त हो गया, किन्तु वर्तमान की इस रक्त की नदी के साथ भविष्य की अंगारों की वर्षा भी जुड़ गयी।

और खिले हुए फूलों से लहलहाता हुआ वह उद्यान संयमशूर रूपी नरफूलों का समाधिस्थल बन गया। वह समाधिस्थल युद्धस्थल के समान था- चारों ओर नरमुंड, हड्डियाँ और मांस के लोथड़े बिखरे पड़े थे और रक्त की नदियाँ छितराकर जैसे सागर की तरह फैल गयी थीं। गिद्धों, शृगालों और कौवों का महाभोज चल रहा था। वहीं से एक गिद्ध खून सना रजोहरण यह समझ अपनी चोंच में दबाकर उड़ चला जैसे वह मांस का बड़ा लोथड़ा हो। उड़ते-उड़ते वह रजोहरण उसकी चोंच से छूट गया और महारानी पुरन्दरयशा के प्रासाद में उसके कक्ष के बाहर गिर पड़ा। रक्तरंजित रजोहरण देखकर वह आशंकित हो उठी और सारी वस्तुस्थिति जानकर तो मूर्छित ही हो गयी। फिर वही मूर्छा जागृति और वैराग्य में बदल गयी- वह भगवान के समीप दीक्षित हो गयी।

उधर चल विचल होकर निदानपूर्वक जो स्कन्दक मुनि ने प्राण त्यागे, तो वे अपने पूर्व संकल्पानुसार अग्निदेव हुए। अपने ज्ञान में उन्होंने उस उद्यान के विकराल रूप को देखा और वे स्वयं विकराल हो गये।

देखते ही देखते कुंभकारकटक नगर का आकाश अग्निमय हो गया और आकाश से अंगारों की वर्षा होने लगी। देववाणी गुंजित हुई- अरे पापी पालक, भुगत अपने पाप के परिणाम को, अब तेरी कोई रक्षा नहीं है।

अंगारों की वर्षा तब तक होती रही, जब तक पालक, उसका परिवार, राजा दंडकी और सारी नगरी जलकर भस्म नहीं हो गयी।

कहते हैं आज का दंडकारण्य वही स्थान है।

स्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र अध्य. 2 त्रिषष्टिश्लाका पुरुष-चरित्र।

सार- धर्महीन मनुष्य पशु के समान अहंकारी और क्रूर हो जाता है। फिर भी संयमी को विचलित नहीं होना चाहिये।

❖ ❖ ❖

बिजली भी क्यों बंध जाती है ?

उनके सामने अश्वों के जीवन का ही नहीं, उनके स्वयं के जीवन का यथार्थ चित्र उभर आया कि कैसा होता है, अपनी अन्तरात्मा का नियंत्रण और कैसा होता है इन्द्रियों का नियंत्रण?

अचानक समुद्र में एक भीषण तूफान उठा और उसने हस्तिशीर्ष नगर के सार्थवाहों के एक व्यापारिक जहाज को अपनी बाहों में घेर लिया। देखते-देखते ऐसी आंधी चली कि सारा आकाश अंधकार की कालिमा से व्याप्त हो गया। हाथ से हाथ नहीं सूझ रहा था। ऊपर उछलती हुई लहरों में जहाज एक खिलौने की तरह डगमगाने लगा और जहाज के सारे यात्रियों में त्राहि-त्राहि मच गयी। इतना ही नहीं, जहाज के मुख्य चालक को ऐसा मतिभ्रम हुआ कि न तो उसे दिशा का ज्ञान रहा और न उसे बचाव का कोई कारगर उपाय ही सूझा। वह तो मृत्युलीला को आँखों फाड़े देखता ही रहा।

हताश हो यात्रियों ने उच्च स्वरों में देवताओं की स्तुति का उच्चारण आरंभ कर दिया, ताकि तूफान की डरावनी गड़गड़ाहट को भूल सकें और इस तरह अपनी भय-भीति को अधिक पीड़ादायक न होने दें। मृत्यु के साक्षात् तांडव के समक्ष और अधिक वे कर ही क्या सकते थे, जबकि चालक स्वयं निराश हो चुका था? तूफान की गर्जना-तर्जना उमड़ती-घुमड़ती रही और यात्री जोर-जोर से स्तुतिपाठ करते रहे। जीवन और मृत्यु के हिंडोले में यों वे काफी समय तक झूलते रहे।

यह यात्रियों की संकल्प-शक्ति ही थी कि हजारों घातक हिचकोले खाकर भी जहाज डूबा नहीं और अन्ततः तूफान थम गया। किन्तु अब एक नयी चिन्ता सामने आ खड़ी हुई। जहाज इस समय कहाँ चल रहा है और कोई भी किनारा कितनी दूर है- इसका अनुमान किसी को नहीं हो रहा था। ज्यों-ज्यों अंधकार मिटता गया, त्यों-त्यों वातावरण स्पष्ट होता गया और सबकी डूबी हुई आशाएँ भी फिर से तैरने लगीं। चालक ने यकायक खुशी से एक चीख मारी। सब विस्मित होकर उधर दौड़े और चालक से पूछने लगे- यह क्या बात हो गयी कि आप इतनी खुशी से चहक उठे हो?

चालक के चेहरे पर चमक और मुस्कान दोनों थीं, वह बोला- भाइयों, मुझे जो मतिभ्रम हो गया था, वह समाप्त हो गया है। मेरी मति पुनः कार्यक्षम हो गयी है और दिशा-ज्ञान के योग्य भी। हमारा जहाज जिस

दिशा में आगे बढ़ रहा है, जल्दी ही कालिक द्वीप पर पहुँचनेवाला है। देखो, ये सामने वाले संकेत उसी द्वीप के हैं।

सभी यात्रियों ने अपनी दृष्टि उधर घुमायी, तो देखा कि हरे-भरे वृक्ष और भूमितल दिखायी दे रहा था। सबने सन्तोष की सांस ली कि द्वीप है, तो भोजन-पान की सामग्री भी प्राप्त होगी। चालक ने धीरे-धीरे जहाज को द्वीप की ओर घुमाया तथा किनारे पर पहुँचकर लंगर डाल दिया।

सभी लोग छोटी-छोटी नौकाओं द्वारा द्वीप की भूमि पर उतरे। द्वीप की प्राकृतिक छटा देखते ही बनती थी। हरे-भरे वृक्षों-झाड़ियों से आच्छादित और रंग-बिरंगे सुगंधित फूलों से सज्जित था वह द्वीप। एक सुन्दर लता-कुंज में विश्राम कर लेने के बाद सब लोग द्वीप का भ्रमण करने निकले। वे यह देखकर आश्चर्य-चकित हो उठे कि चारों ओर अमूल्य धातुओं की कई खानें फैली हुई हैं और उनके बाहर विपुल मात्रा में स्वर्ण, रजत और रत्न बिखरे पड़े हैं। वे हतप्रभ हो गये थे कि यहाँ इतनी अकूत सम्पत्ति एकत्रित है। वे सोचने लगे कि कैसे उसका अधिकांश भाग उनके द्वारा अपने साथ ले जाया जा सकता है।

तभी उनके आश्चर्य ने एक नयी ऊँचाई भरी। वे क्या देखते हैं कि एक विशिष्ट प्रकार के अश्वों (घोड़ों) का एक समूह बिजली की गति से उछालें मारता हुआ

भागा जा रहा था। ऐसी तीव्र गति उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी, अतः उन्होंने अनुमान लगाया कि ये निश्चय ही उत्तम जाति के अश्व हैं और इनकी बिजलीसी चाल को देखते हुए आशा नहीं होती कि मनुष्य उन्हें बंधन में डालकर अपने वश में कर सकता है। उन्हें लगा कि क्या कोई बिजली को भी बांध सकता है?

फिर तो उन्हें ऐसे अश्वों के कई समूह दिखायी दिये, जो ऐसी अठखेलियाँ करते हुए इधर-उधर भागे जा रहे थे। इन अश्वों का रंग नीला था और रूप-स्वरूप सुहावना। विद्युत वेग से भागते हुए वे ऐसे प्रतीत होते थे, मानो वे धरती पर नहीं चल रहे, आकाश में विहगों की भांति उड़ रहे हों अथवा ऐसे कि जैसे आकाश की बिजलियाँ धरती के छोर पर आकर थिरक रही हों।

सबने उन अश्वों में एक विशेषता का भी अनुभव किया। उन्हें लगा कि वे अश्व मनुष्यों की गंध को सहन नहीं कर पाते हैं। यही कारण था कि उन्हें देखते ही दूर से ही वे अश्व सुदूर अंचलों में भाग जाते थे। उन्होंने बहुत कोशिश की कि कुछ अश्वों को वे पकड़ें, ताकि उन्हें अपने राजा कनककेतु को भेंट में दे सकें। व्यापारी यदि अपने राजा को अनुपम उपहार दे सकें, तो राजा की उन पर असीम कृपा रहेगी और वे नाना प्रकार की सुविधाएँ और रियायतें राजा से पा सकेंगे। मात्र एक अश्व को भी पकड़ लेने का उन्होंने बहुतेरा प्रयास किया, परन्तु अश्वों की अकल्पनीय चपलता से वे विफल रहे। यथासुविधा

उस कालिक द्वीप से उन व्यापारियों ने अमूल्य धातु ही एकत्रित किये और जहाज को लेकर अपने गंतव्य की ओर चल पड़े।

आओ, आओ, श्रेष्ठियों ! सुदूर जलयात्रा से सकुशल लौट आने के अवसर पर हम तुम्हारा स्वागत करते हैं- हाथ फैला कर राजा कनककेतु ने सामुद्रिक व्यापारियों का अभिनंदन किया। आखिर उसके राज्य के ये साहसी व्यापारी ही तो थे, जो उसके लिए सुदूर प्रदेशों से विचित्र एवं मूल्यवान वस्तुओं के मनभावन उपहार लाया करते थे।

व्यापारियों की कुशल-क्षेम पूछने के पश्चात् राजा कनककेतु जिज्ञासाभरे स्वर में पूछा- श्रेष्ठिवरों ! तुम लोग अनेक प्रदेशों, राज्यों और द्वीपों की यात्रा करते रहते हो और संभव है, कई विचित्र प्राणी या पदार्थ भी तुम्हारी दृष्टि से गुजरते होंगे। इस बार भी तुम्हारी यात्रा अतीव रोमांचक रही है, तो ऐसी किसी विचित्रता का वृत्तान्त तो हमें सुनाओ।

राजन्, हमारी यात्राओं में कई असाधारण प्राणी या पदार्थ हमें अवश्य देखने को मिलते हैं, किन्तु इस यात्रा में तो हमने ऐसा विचित्र प्राणी देखा है कि उसके प्रति हम अब भी व्यामोहित जैसे हैं- व्यापारियों ने विस्मयकारी वाणी में कहा।

कैसा था वह ऐसा प्राणी और कहाँ किस स्थान पर तुमने उसे देखा?

महाराज ! समुद्री तूफान में भटक कर हमारा जहाज एक अनजाने द्वीप पर जा लगा। उसका नाम कालिक द्वीप था। वहाँ अपरिमित मात्रा में फैले स्वर्ण, रजत और रत्न तो हम अपने साथ लाये ही हैं, किन्तु आपको भेंट लाने की हमारी अभिलाषा और उसको पकड़ लेने के एकजुट प्रयास के उपरान्त भी हम उस प्राणी को आपकी सेवा में नहीं ला सके। वह प्राणी था नील वर्ण का अश्व और अश्व क्या था जैसे साक्षात् बिजली ही हो। ऐसा सुन्दर रूप और ऐसा तीव्र वेग हमने पहले कभी नहीं देखा। और वैसा अश्व भी कोई एक ही नहीं था- समूह के समूह विद्युत् वेग से इधर-उधर भाग रहे थे।

किसी भी राजा को अश्व अति प्रिय होते हैं और उत्तम जाति के विलक्षण अश्व के लिए तो वह अपना कुछ भी निछावर कर सकता है। कालिक द्वीप के विचित्र अश्वों की बात सुनकर तो राजा कनककेतु उछल ही पड़ा, बोला- ऐसे अश्व तो हमारे पास होने ही चाहिए। क्या कारण है कि आप उन्हें पकड़ न सके?

क्या बतायें, महाराज, हमें तो यही लगा कि आकाश की थिरकती हुई बिजलियों को रस्सों के बंधन से नहीं बांधा जा सकता है और वे मनुष्य की गंध से भी दूर भागते हैं। उनके सौन्दर्य का वर्णन करना तो हम अपनी शक्ति से बाहर समझते हैं- व्यापारियों ने करबद्ध होकर उत्तर दिया।

राजा कनककेतु विचार में पड़ गया। चाहे जो

कुछ करना पड़े, ऐसे अश्वों को तो प्राप्त करना ही होगा, परन्तु कैसे ? यही तो सबसे बड़ी विचारणीय समस्या है। राजा ने अश्वप्राप्ति हेतु व्यापारियों से अगले दिन पुनः मिलने का अनुरोध किया और स्वयं समस्या का समाधान खोजने अपने एकान्त कक्ष में चला गया।

दूसरे दिन जब व्यापारी राजा से मिलने आये, तो उसने कहा- मैंने समस्या का समाधान खोज लिया है। मैं उन बिजलियों को भी रस्सों से बांधकर दिखाना चाहता हूँ, ताकि सारे देश में मेरी ही अश्वशाला ऐसी हो, जिसमें बिजलियाँ बंधी मिलें।

बोलते-बोलते राजा कुछ देर के लिए रुका, तो व्यापारी एक दूसरे का मुँह देखने लगे कि आखिर ऐसा क्या समाधान हो सकता है ? राजा ने तब अपना उपाय विस्तार से बताया- देवानुप्रियों, तुम्हें इस संदर्भ में एक रहस्य की बात बताता हूँ। हम सबके पाँच इन्द्रियाँ हैं और उनके विषय हैं- शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श। इस संसार का मनुष्य इन पांच प्रकार के सुखों से सन्तुष्ट रहना चाहता है, अतः इन सुखों की प्राप्ति के पीछे भागता रहता है। एक बार इन सुखों के प्रति जो आकर्षण पैदा हो जाता है, तो फिर उनकी चाह छूटती नहीं। यह चाह भी एक-सी नहीं रहती, ज्यों-ज्यों लाभ होता है, लोभ बढ़ता जाता है और चक्र अविराम गति से घूमता रहता है अर्थात् इच्छाओं और तृष्णाओं का अन्त कभी नहीं आता। इन्द्रियों से जो जब तक स्वतंत्र रहता है या स्वतंत्र हो

जाता है, उसे बांधना मुश्किल जरूर है, पर इन्द्रिय-विषयों की ओर आकृष्ट होते ही वह बंधन में बंध जाता है, चाहे वह बिजली के सहज स्वभाववाला ही क्यों न हो और जो एक बार बंधा, तो बंधा ही रह जाता है।

राजा ने अपनी योजना का उल्लेख करते हुए आगे कहा- कालिक द्वीप के ये अश्व स्वतंत्र हैं- बंधन को जानते नहीं, मानते नहीं। उनकी इन्द्रियों को हमें सक्रिय बनाना होगा। आप कुछ व्यापारी भाई मेरे योग्य कर्मचारियों के साथ राजकोष से पर्याप्त धन लेकर कालिक द्वीप जाइए। वहाँ उन अश्वों की पांचों इन्द्रियों को आकर्षण के जाल में उलझाना होगा। शब्द का वहाँ जाल बिछायें मधुर राग-रागिनियों से और मीठे सुरवाले वीणा आदि वाद्य-यंत्रों से। रूप का जाल बिछायें सुदर्शन पदार्थों से और सुहावनी घोड़ियों से। गंध के लिए इत्र, तेल-फुलेल से वहाँ की धरती को सुगंधित कर दीजिए। रस और स्पर्श सुख के लिए अश्वों को प्रिय नाना व्यंजन और सुखकारी वस्तुएँ चारों ओर फैला दीजिए। आप लोग इधर उधर दूर छिपे रहकर उन अश्वों की चेष्टाओं का अवलोकन कीजिए। फिर देखिए कि आप उन अश्वों को क्यों पकड़ें, वे खुद ही उन सारे पदार्थों को और पाने के लोभ में आपके पास चले आयेंगे। आप उन्हें वे पदार्थ देते-दिखाते रहें और रस्सों से बांधकर यहाँ ले आयें। आप को प्रत्यक्ष अनुभव हो जायेगा कि बिजलियों को भी रस्सों से बांधा जा सकता है।

राजा द्वारा बताये उपाय पर सबने दाँतों तले अंगुली दबा दी। उनके सामने अश्वों के जीवन का ही नहीं, उनके स्वयं के जीवन का यथार्थ चित्र उभर आया कि कैसा होता है, अपनी अन्तरात्मा का नियंत्रण और कैसा होता है इन्द्रियों का नियंत्रण? वे समझ गये कि कालिक द्वीप के अश्व भी इन्द्रियों के नियंत्रण से मुक्त नहीं हैं। अभी वे आत्मा के नियंत्रण में हैं- स्वतंत्र हैं और ज्यों ही इन्द्रियों के नियंत्रण में वे आ जायेंगे- यह सही है कि वे अपने आप बंधन में बंध जायेंगे। अश्व विचित्र हैं, किन्तु उससे भी अधिक विचित्र है इन्द्रिय-सुखों की इन्द्रजालिका माया।

व्यापारी और राज्य-कर्मचारी जहाज लेकर कालिक द्वीप पहुँचे। भोजन, विश्राम आदि से निवृत्त हो वे अश्वों के लिए इन्द्रिय-सुख के जाल फैलाने के कार्य में प्रवृत्त हो गये। वे लोग उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ वे अश्व रात को सोते और लोटते थे। उन्होंने वहाँ उन सभी पदार्थों को योग्य रीति से फैला दिया, जिनके प्रति उन अश्वों की इन्द्रियाँ आकर्षित और प्रलुब्ध हो सकती थीं- वीणावादन और गान का भी प्रबन्ध कर दिया गया। फिर सब लोग दूर-दूर झाड़ियों के पीछे छिप कर बैठ गये, जिससे उन अश्वों के नथुनों तक उनकी गंध न पहुँच सके।

जब उन्होंने देखा कि आते-जाते वे अश्व उन पदार्थों की ओर आकर्षित हो रहे हैं, तब दूसरे दिन अधिक

पदार्थ बिखराकर रख दिये। इस तरह चार-पांच दिन में वे अश्व उन पदार्थों के प्रयोग के अभ्यस्त हो गये तो एक दिन कोई भी पदार्थ न वहाँ नया डाला और न पहले का रहने दिया। अश्व उस दिन उन पदार्थों के लिए पागल होकर इधर -उधर भटकने लगे। तब उससे अगले दिन स्वयं वे लोग अपने हाथों में वे पदार्थ लेकर खड़े हो गये, तो अश्व बेहिचक उनके पास आ गये और जैसे उनसे उन पदार्थों की याचना करने लगे। न मनुष्यों की गंध ने उन्हें पास आने से रोका और न ही बिजली जैसी चाल उन्हें मनुष्यों से दूर रख पायी। तब वे पदार्थ कुछ देते, कुछ दिखाते हुए उन लोगों ने यथावश्यक अश्वों को पकड़ लिया और बंधनों में बांध दिया।

लेकिन एक अनोखी बात भी घटित हुई। कुछ ऐसे अश्व इनमें से अवश्य निकले, जो न तो उन पदार्थों के प्रति आकर्षित हुए और न ही उनकी लालसा में मनुष्यों के पास आये। इन्द्रियों के विषय-सुखों में वे न पड़े, तो वे स्वतंत्र ही रहे और कालिक द्वीप के अंग बनकर ही रहे।

बंधन में बंधे हुए अश्वों को जहाज पर चढ़ाया गया और तब वे हस्तिशीर्ष नगर पहुँच गये। वे अश्व राजा कनककेतु की सेवा में प्रस्तुत किये गये। राजा उन अश्वों की अनुपम शोभा निहारकर फूला नहीं समाया। वह उन्हें बहुत देर तक निरखता ही रहा। तब व्यापारी राजा का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए बोले- महाराज ! आपका ज्ञान और आपकी बुद्धि विलक्षण है।

जो कुछ आपने बताया था, वैसा करने पर सब कुछ वही हुआ, जैसा आपने कहा था। हम कालिक द्वीप के जिन अश्वों को नियंत्रण से बाहर समझते थे, वे ही अश्व स्वतः हमारे नियंत्रण में आ गये।

राजा ने उत्साहित होकर पूछा- क्या सब कुछ वैसा ही घटित हुआ और तुम्हें इन अश्वों को अपने वश में करने में क्या कोई विशेष कष्ट नहीं हुआ?

हाँ, राजन ! कोई कष्ट नहीं हुआ। उन पदार्थों ने ही सारा कार्य कर दिया। किन्तु यह अवश्य हुआ महाराज, कि कुछ अश्व उन पदार्थों से तनिक भी प्रभावित नहीं हुए और इस कारण वे बंधन से भी दूर रहे। वे वहाँ अभी भी स्वतंत्र घूम रहे हैं- व्यापारियों ने रहस्य की दूसरी बात बतायी।

राजा को वह बात बहुत अच्छी लगी कि अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखनेवाले वस्तुतः ही धन्य होते हैं।

स्त्रोत- ज्ञाताधर्म कथा सूत्र।

सार- इन्द्रियों को वश में न करने से अनर्थ की प्राप्ति होती है। इन्द्रिय-सुखों में आसक्त होनेवाले साधु संसार में बंध जाते हैं, परन्तु अनासक्त रहनेवाले स्वतंत्र रहते हैं और इहलोक-परलोक में सुखी होते हैं।

❖ ❖ ❖

वह पाँव और ये पाँव

दिनभर की थकान, निद्राभंग और उमस से मेघ मुनि जैसे बुरी तरह घबरा उठे। घबराये भी इतने कि उनका मन चल-विचल हो उठा। उनकी सोच इस सीमा तक पहुँच गया- मैंने दीक्षा लेकर क्या भूल तो नहीं की?

पिता महाराज ! आप और यह उदासी, ऐसा क्यों? मेरे रहते भला, आपको क्या व्यथा हो सकती है? मुझे आपकी चिन्ता का कारण बताइए और समुचित आदेश-निर्देश दीजिए- प्रातःकाल पद-वन्दन करने आये अभयकुमार ने महाराजा श्रेणिक से निवेदन किया।

राजगृही नगरी के सम्राट श्रेणिक कुशल एवं लोकप्रिय शासक थे। उनका विलक्षण बुद्धिसम्पन्न प्रधानमंत्री उनका ही पुत्र अभय कुमार था। अभय कुमार रानी नन्दा का पुत्र था और उस समय जिसकी वेदना से श्रेणिक चिन्तित थे, वह उनकी छोटी रानी धारिणी थी।

रानी धारिणी ने एक शुभ स्वप्न के साथ गर्भधारण किया था। उस शुभस्वप्न का फल स्वप्न शास्त्रियों ने यह बताया कि वह एक परम प्रतापी पुत्ररत्न को जन्म देगी, जो श्रेष्ठ राजा बनेगा या इसी जन्म में सांसारिक सुखों को लात मारकर अनगार बनेगा और अपनी आत्मा को परम कल्याण के मार्ग पर आरूढ़ करेगा।

समस्या उत्पन्न हुई थी रानी धारिणी के इस गर्भ से सम्बंधित दोहद (गार्भिणी की इच्छा) से, जिसकी असमय में पूर्ति कठिन से कठिन समझी जा रही थी। राजा श्रेणिक उस समय इसी दोहद की पूर्ति किये जाने के सम्बन्ध में चिन्तामग्न हो रहे थे।

श्रेणिक ने अपने मेधावी पुत्र को आशीर्वाद देते हुए कहा- पुत्र अभय ! मैं जानता हूँ कि तुम्हारी त्वरित बुद्धि अतुलनीय है, किन्तु तुम्हारी छोटी माता धारिणी का दोहद भी कम कठिन नहीं। अब देखो न, इस भीषण ग्रीष्मकाल में उसे दोहद उत्पन्न हुआ है कि वह सारे आकाश में मेघों को घिरा हुआ, मयूरों का केकारव गूंजता हुआ, बिजली का प्रकाश थिरकता हुआ और वर्षा की फुहारों से धरती का सारा आंचल हरा होता हुआ देखे एवं उस रम्य वातावरण में वह मेरे साथ हाथी के हौदे पर बैठकर वैभारगिरि का भ्रमण करे। अब कैसे पूरा करें इस दोहद को? आकाश तो ऐसा निरभ्र और नीला है कि कहीं बादल का एक टुकड़ा तक नहीं और रानी है कि दोहद

की चिन्ता में दुबली हुई जा रही है। वत्स ! मेरी इस समय की चिन्ता का यही कारण है।

अभय कुमार ने यह सब सुना, कुछ देर तक विचार किया और अपने पिता को उत्तर दिया- पिताश्री ! आप चिन्ता न करें। मैं कोई न कोई उपाय अवश्य करूँगा, जिससे मेरी छोटी माता का दोहद पूरा हो जाये और वह वेदनारहित बन जाये।

श्रेणिक को अपने इस पुत्र और प्रधानमंत्री के शौर्य और सामर्थ्य पर पूरा विश्वास था, फिर भी उस समय वे उसके इस आश्वासन पर पूरा-पूरा विश्वास नहीं कर सके। प्रकृति के विरुद्ध भला क्या उपाय किया जा सकेगा? ग्रीष्म में मेघ, मयूर, बिजली, फुहार और हरीतिमा को कैसे लाया जा सकेगा?

अभय कुमार कभी हार माननेवाला नहीं था। उसने कई उपायों पर विचार किया, किन्तु असमय में यह सब करने का कोई कारगर उपाय सामने नहीं आया। तब वह अपनी पौषधशाला में पहुँचा और तेले का तप स्वीकार करके ध्यान-साधना में बैठ गया। उसका उद्देश्य था- अपने मित्र देवता का आवाहन करना और उससे इस समस्या के समाधान हेतु योगदान करने का निवेदन करना। भावपूर्वक स्मरण किया गया तो मित्र देवता उपस्थित हुआ और अभय कुमार से बोला- कहो मित्र ! तुमने मुझे क्यों स्मरण किया? मैं तुम्हारे लिए क्या करूँ?

अभय कुमार ने अपनी समस्या देवता के समक्ष प्रस्तुत की। देवता ने हंसते हुए कहा- मित्रवर, मैं जरूर तुम्हारी माता के अकाल में उत्पन्न दोहद को अपनी वैक्रिय शक्ति द्वारा पूर्ण करूँगा। यह कहकर देवता अन्तर्धान हो गया। शीघ्र ही सारे इच्छित वातावरण की रचना हो गयी और धारिणी रानी अपने दोहद की पूर्ति करके सुखपूर्वक अपने गर्भ का पोषण करने लगी। यथा समय पुत्र का जन्म हुआ और विचित्र दोहद की विचित्र पूर्ति के कारण उस बालक का नाम मेघकुमार रखा गया।

मेघकुमार की शारीरिक आभा ही नहीं, मानसिक प्रभा भी विलक्षण थी। अल्पकाल में ही उसने सभी विद्याओं एवं कलाओं में निपुणता प्राप्त कर ली। यौवन के उदयकाल में ही राजा श्रेणिक ने आठ सुदर्शना एवं सुलक्षणा राजकुमारियों के साथ मेघकुमार का विवाह कर दिया।

अहिंसाधर्म एवं परम कल्याण की विवेचना करते हुए, अन्य प्राणियों को प्रतिबोध देते हुए एवं ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए प्रभु महावीर एक समय राजगृही पधारे। सारी नगरी में हर्ष की लहर फैल गयी। सपरिवार श्रेणिक राजा, नगरजन, सेवक और सैनिक सभी भगवान महावीर के वन्दन, दर्शन एवं उपदेश-श्रवण हेतु उद्यान की ओर गये। धर्म-देशना में नवतत्वों, जीव एवं कर्म के सम्बन्ध तथा मोक्ष के स्वरूप का मार्मिक विश्लेषण हुआ और

जिससे श्रोता अमित रूप से प्रभावित हुए। कल्याण कामी जीवों ने यथाशक्ति व्रत अंगीकार किये और हर्षविभोर हो अपने अपने स्थान को लौट गये, परन्तु मेघकुमार भगवान के समीप ही ठहर गया। भगवान की अमृत वर्षा से जैसे भीतर-बाहर पूरी तरह वह भीग गया था और वे उद्‌बोधक वचन उसके अन्तर्मन में गुंजित हो रहे थे। वह एक पल भी संसार में रुकने का अभिलाषी नहीं रहा। भावपूर्ण वैराग्य से उसकी आत्मा आप्लावित और अभिभूत हो गयी थी।

मेघकुमार ने अपनी सरल भावुकता के साथ प्रभु के चरणों में निवेदन किया- हे भगवान ! आपने करुणा करके मुझे संसार की असारता प्रत्यक्ष करा दी है और मुझे आनन्दमय नये जीवन का दर्शन कराया है। अब आप मुझे अपनी ही शरण में ले लीजिए।

महावीर ने अपनी संयमित भाषा में ही कहा- हे देवानुप्रिय ! जैसा तुम्हें सुख हो, वैसा ही करो, किन्तु वैसा करने में विलम्ब तनिक भी न करो।

आनन्दानुभूति के आह्‌लाद से उमगता हुआ मेघकुमार तुरन्त अपने माता-पिता के पास पहुँचा और विनयपूर्वक बोला- मेरे परम पूज्य ! आज मैं परम आनन्दित हूँ और आप से आज्ञा चाहता हूँ कि आप मेरे इस आनन्द को सदा वर्धमान होता हुआ देखें। मैं इस संसार को त्यागकर प्रभु महावीर की सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।

सब कुछ जानते हुए भी पुत्रमोह में माता-पिता का मन कहाँ मानता है? यह सुनकर रानी धारिणी तो मूर्छित ही हो गयी वह पुत्र-वियोग की कल्पना तक सह न सकी। राजा-रानी ने उसे बहुत समझाया कि अभी इतना कठिन व्रत धारण करने की उसकी आयु नहीं है। राजसुख में पला हुआ वह मुनिजीवन की कठिनाइयों को झेल नहीं पायेगा, किन्तु मेघकुमार ने उनकी एक न सुनी और उन्हें स्पष्ट कर दिया कि उसका यह संकल्प अडिग है।

भावविहवल होकर श्रेणिक ने कहा- वत्स ! एक बार फिर कहता हूँ कि मुनिधर्म का अनुपालन बहुत कठोर होता है और वैसी कठोरता का अनुभव तो दूर- तुमने कभी अनुमान तक नहीं लगाया होगा। उस कठोरता का सामना तुम कैसे कर पाओगे- यही सोचकर मुझे भय होता है। इसलिए हमारी बात मान जाओ और राज्यसुख भोगकर आत्म-कल्याण के लिए निकलो।

पिताजी, मैं जानता हूँ कि साधुचर्या कठिन कष्टों की राह है और आपका कथन भी सत्य है कि मैं उस राह पर कितनी दृढ़ता से चल पाऊँगा, परन्तु मेरी आन्तकि-इच्छा पूर्णतया तत्पर है। ऐसी चर्या को तत्काल स्वीकार कर लेने के लिए। ऐसी इच्छा के बल पर मैं राह से भटकूँगा नहीं- यह मेरा विश्वास है। आप तो मुझे मेरे संकल्प की पूर्ति में योग दीजिए और आनन्दित होइए- मेघकुमार ने जैसे अपने अटल निश्चय से कतई

चलायमान न होने का पक्का संकेत दे दिया। राजा-रानी भी भविष्य के फल के प्रति आश्वस्त हो गये। तब श्रेणिक ने इतनी ही मांग की कि वह एक दिन के लिए ही सिंहासनारूढ़ हो जाये और उसके बाद दीक्षा-अंगीकार कर ले, जिससे उनके मन को सन्तुष्टि मिलेगी। मेघकुमार ने पिताज्ञा को सर-माथे ली और दूसरे दिन राजकुमार मेघ संसार विमुक्त हो मेघ मुनि बन गये।

मेघकुमार के मुनि जीवन का पहला दिन बीता और पहली रात्रि आयी। मेघ मुनि नव दीक्षित थे- दीक्षा वरिष्ठता की दृष्टि से कनिष्ठतम। इस कारण अपनी सोने की पथारी (बिस्तर) सबसे अन्त में निकास दरवाजे के पास उन्हें लगानी पड़ी। सभी मुनियों के सो जाने के बाद अपने स्थान पर वे भी सो गये।

मखमल के मुलायम गद्दों पर सोनेवाले की पहली रात वैसे ही बहुत कठोर थी- खुरदरा भूमितल, बिछौने के नाम पर एक चद्दर मात्र और ऊमस से बहता घाम, बस ! नींद उनकी आँखों में आने का नाम ही नहीं ले रही थी। किसी तरह आँखें कुछ झपकने लगीं तो उनके पांवों पर बारबार दूसरे पाँव पड़ने लगे, टकराने लगे और चोट पहुँचाने लगे। मुनिजन लघुशंका आदि कार्यों के हेतु बाहर जाते-आते और अंधेरे के कारण उनके पाँव मेघ मुनि के पाँवों से टकरा जाते। अब तो नींद उनकी आँखों से गायब ही हो गयी। दिनभर की थकान, निद्राभंग और

उमस से मेघ मुनि जैसे बुरी तरह घबरा उठे। घबराये भी इतने कि उनका मन चल-विचल हो उठा। उनकी सोच इस सीमा तक पहुँच गया- मैंने दीक्षा लेकर क्या भूल तो नहीं की? मेरे पिताजी ने मुनिधर्म की कठिनाइयों का ठीक ही तो वर्णन किया था, मैंने उसे न मान क्या नासमझी दिखायी? मैं राजकुमार और न जाने कहाँ कहाँ से आये ये मुनि मेरे ठोकरें लगा रहे हैं, क्या मैं इन्हें रोज-रोज इसी तरह सहता रहूँ? इस तरह लातें खाना तो मुझसे सहन नहीं होगा। तो फिर मैं क्या करूं?

मेघमुनि की सोच एक ही दिशा में बढ़ती गयी- नहीं पाल सकूंगा ऐसा कठोर मुनिधर्म मैं। बस ! प्रातःकाल हो जाय और यह रजोहरण-पात्र भगवान को सौंप मैं तो पुनः राजमहल लौट जाऊँगा। मेरे माता-पिता मुझे वापिस पाकर अवश्य ही हर्षित होंगे। कब हो जाय सूर्योदय और मैं इस कष्ट से मुक्ति पाऊँ?

सूर्योदय हुआ, किन्तु तब तक भी मेघमुनि के अन्तःकरण में प्रकाशोदय नहीं हुआ। तब भी यही धुन समायी हुई थी कि वस्त्र-पात्र भगवान को सौंपूं और अपने सुखपूर्ण जीवन में लौट जाऊँ। भगवान के पास जब वे जाने लगे तो यकायक उनका मन संकोच से भर उठा। वे धीरे-धीरे पाँव उठाते हुए तथा मुँह नीचा किये हुए लज्जा के आवरण में लिपटे भगवान के समक्ष पहुँचे।

भगवान ने मेघमुनि को अपने पास आते देख

पहले ही स्नेहसिक्त स्वर में उद्‌बोधन दिया- अहो मेघमुनि ! तुम्हारा इतना वीरत्व एवं त्यागभरा अतीत और वर्तमान में केवल एक रात्रि में ही तुम वीरता और त्याग को पीठ दिखाने के लिए तत्पर हो गये ? इतनी अधीरता क्या उचित है ? इतना तो सोचो कि सबके समझाने-बुझाने के बाद भी तुमने दीक्षा का संकल्प नहीं त्यागा और दीक्षा ली, तो एक ही रात में घबरा उठे ! क्या सभी तुम्हारी इस गहराई को नापना नहीं चाहेंगे ? तब क्या परिणाम निकालेंगे वे ?

मेघमुनि जहाँ के तहाँ खड़े रह गये- काटो तो खून नहीं। मुख की कान्ति जैसे विलुप्त हो गयी हो। एक तो रोषपूर्वक जो कुछ मैं भगवान को कहना चाहता था, भगवान ने उसे पहले ही समझ लिया और दूसरे, मेरे मनोभावों को समझकर जिस स्नेह के साथ मुझे स्थिर करने का उद्‌बोधन दे रहे हैं, तो अब मेरे लिए कहने को रह ही क्या गया है ? मेघमुनि कुछ भी नहीं बोल सके।

भगवान तो केवल ज्ञानी थे। वे तो जानते थे कि मेघमुनि का भविष्य क्या है। वत्सल भाव से मेघमुनि के अतीत का पर्दा ऊपर उठाने लगे- मेघमुनि ! इन पाँवों से तुम घबरा गये, क्योंकि तुम अपने पाँव को भूल गये। वह पाँव और ये पाँव- बहुत अन्तर है इनमें।

तुम यथार्थ को सुनो, मौलिक रूप से तुम कितने वीर और त्यागी थे। पूर्वजन्म में तुम एक गजराज थे। एक

बार वन में दावानल सुलगा। छोटे-बड़े सभी वन्य प्राणी वन से भागकर बाहर एक खुले मैदान में एकत्रित हो गये। मैदान सब प्राणियों के लिए छोटा पड़ रहा था। जीवनरक्षा के लिए तुम भी उसी मैदान में खड़े थे। उस समय तुम्हारे बदन में खाज चली, उसे खुजाने के लिए तुमने अपना एक पांव ऊपर उठाया। उससे खाली हुए स्थान में तुरन्त ही स्थानहीन एक खरगोश आ बैठा। जब तुम अपना उठा हुआ पाँव नीचे धरने लगे, तो तुम्हें किसी कोमल प्राणी का आभास हुआ। तुम्हारे हृदय करुणा से भर उठा कि पाँव नीचे रखते ही उस प्राणी की हत्या हो जायेगी, अतः पाँव ऊपर ही उठाये रखूँ और चाहे जितना कष्ट हो, तीन पाँवों पर ही खड़ा रहूं। एक छोटे से प्राणी की दया और जीवनरक्षा के लिए तुमने अपना जीवन समर्पित कर दिया और यहाँ तो जो पाँव अनजाने में तुम्हारे पाँवों से टकराये भी हैं, वे तुम्हारे लिए पूज्यजनों के पाँव हैं, जिनके स्पर्श से तुम धन्य हुए। अब सोचो और तुलना करो कि एक वह पाँव था तुम्हारा और एक ये पाँव हैं- यह अन्तर घबराहट लाता है या मिटाता है? भगवान की वाणी सुनकर विचारने पर मेघ को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे स्वयं पूरा विवरण अपने ज्ञान में देखने लगे।

भगवान, मेरी यह घबराहट अज्ञानवश ही हुई है। मैं लड़खड़ा गया हूँ, पर आपने करुणा करके मुझे संभाल लिया

है। मैं अपनी दुर्बलता को समझ गया हूँ और उसे दूर कर देने के लिए तत्पर हूँ प्रभु, आपने मेरे ज्ञान-चक्षुओं में प्रकाश भर दिया है। अब मैं सभी षट्काय जीवों की रक्षा में अपना जीवन निष्ठापूर्वक समर्पित कर दूँगा। परन्तु मुझे आप एक बार क्षमा कर दीजिए- मन की ग्लानि से विगलित होते हुए मेघमुनि भगवान के चरणों में गिर पड़े। उन्होंने देखा- भगवान के मुखमंडल पर दिव्य आभा छिटक रही है।

मेघमुनि का जीवन भी दिव्य हो गया। दुर्बलता के क्षणों ने ही उनके भीतर-बाहर सबलता का तेज भर दिया- इतना तेज, जिसने उनके जीवन को पूर्ण तेजस्वी बना डाला। वे ज्ञानाराधना और तपाराधना में तल्लीन हो गये। प्रभु की आज्ञा से उन्होंने प्रतिमाएँ धारण कीं तथा गुणरत्न संवत्सर की भी आराधना की। कठोर से कठोरतम तपश्चरण तक पहुँचे। समाधिभाव से पंडितमरण को प्राप्त हो अनुत्तर विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए।

स्रोत- ज्ञाता धर्म कथा सूत्र, प्रथम अध्ययन।

सार- यह भी विनय का ही स्वरूप है कि किसी शिष्य के अविनीत हो जाने या संयम मार्ग में लड़खड़ाने पर गुरु उसे मृदुल उपालंभ देकर पुनः विनय-संयम मार्ग में प्रवृत्त करे।

❖ ❖ ❖

तैर रही है मेरी नॉव

यह एक प्राकृतिक वास्तविकता है कि बालक कितने ही गंभीर दायित्व को ग्रहण कर ले अथवा चिन्तन का अभ्यासी बन जाये, फिर भी उसके स्वभाव से चपलता और चंचलता जाती नहीं है। कभी अवसरानुसार तो वह उभर ही आती है।

भन्ते ! आप कौन हैं?

देवानुप्रिय ! हम ईयासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भाण्डमात्र निक्षपणा समिति, उच्चारप्रश्रवण खेल जल्ल सिंघाण परिष्ठापना समिति का पालन करनेवाले मन-वचन-काय से गुप्त इंद्रियों को गुप्त रखने वाले तथा ब्रह्मचर्य से गुप्त श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।

भन्ते ! आप इधर-उधर क्यों घूम रहे हैं ?

हम भिक्षा के लिए घूम रहे हैं, घर-घर से भिक्षा प्राप्तकर हम अपने शरीर को चलाते हैं।

महाभाग ! तब तो आप मेरे घर चलिए, मेरी माता आपको बहुत सारी भिक्षा देगी।

ये बाल-सुलभ प्रश्न और आग्रह कर रहा था पोलासपुर का राजकुमार अतिमुक्त(अयवन्ता) और उसके प्रश्नों का धैर्यपूर्वक उत्तर दे रहे थे भगवान महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी।

गौतम स्वामी भिक्षा हेतु घरों में घूम रहे थे, तो राजमहल के पास से जाते हुए उस भव्य व्यक्तित्व पर अतिमुक्त की दृष्टि पड़ी कि वह सब बालकों के साथ खेल को छोड़कर उस ओर खिंचा चला आया। बालक अतिमुक्तस्वयं सुन्दर, सुकुमार और तेजस्वी था। यही नहीं, बाल्यावस्था में भी उसकी प्रखर बुद्धि का सबको परिचय मिलता रहता था। जब उस ने गौतम स्वामी के उन्नत ललाट, शान्तिपूर्ण मुखमंडल एवं प्रभामय व्यक्ति त्व को देखा, तो सहज ही उसका ध्यान उधर केन्द्रित हुआ और अप्रतिम रूप से प्रभावित होकर वह उन के समीप भाग आया। उसने ये प्रश्न किये। प्रश्नों के उत्तर उसके बाल-मानस में गहरे से गहरे पैठते गये और उसकी चपलता गंभीरता में बदलती गयी।

फिर भी बालक तो बालक ही होता है, उसकी बाल-सुलभ क्रीड़ा लुप्त नहीं हो सकती। उसने गौतम स्वामी की अंगुली ही पकड़ ली और उन्हें वह खींचता-सा हुआ महल में ले चला।

अपने पुत्र अतिमुक्त की वैसी बाल लीला और गौतम स्वामी की अतिशय कृपा से रानी परम प्रसन्न हो उठी। गौतम स्वामी के चरणकमल उसके यहाँ पड़े- वह अपने सौभाग्य को सराहने लगी। उसने अति भक्तिभाव से भिक्षा प्रदान की। गौतम स्वामी ने साधु मर्यादानुसार भिक्षा ली और बालक अतिमुक्त के सुसंस्कारों से प्रसन्न हुए। जब गौतम स्वामी लौटने के लिए मुड़े, तो अतिमुक्त ने अपनी एक और जिज्ञासा प्रस्तुत कर दी- भन्ते ! अब आप कहाँ जायेंगे ?

अतिमुक्त ! मैं अब अपने धर्मगुरु के पास जाऊंगा।

कौन हैं आपके धर्मगुरु ?

मेरे धर्मगुरु श्रमण भगवान महावीर हैं !

आप ही इतने अच्छे हैं, तो आपके धर्मगुरु का तो कहना ही क्या ? मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ, महाभाग ! यह कह अतिमुक्त कुमार गौतम स्वामी के साथ-साथ चल पड़ा।

बालक अतिमुक्तमहावीर प्रभु के पास पहुँच गया। उसने उसी प्रकार भक्तिभाव से भगवान को वन्दन किया, जिस रीति से गौतम ने उन्हें वन्दन किया। महावीर ने अपनी मधुर वाणी में सुगम शैली से उसे उपदेश दिया। वे तो केवल ज्ञानी थे और जानते थे कि इस बालक का भावी जीवन समुन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुँचेगा।

गौतम स्वामी को देखकर और सुनकर अतिमुक्त एक विशिष्ट नवीनता का अनुभव कर ही रहा था, किन्तु भगवान की वाणी ने तो उसके अन्तर्हृदय को यकायक परिवर्तित ही कर डाला। उसके मन में यह अवधारणा जम गयी कि वह भी गौतम स्वामी के समान ही भिक्षु बनेगा और अपने जीवन को वैसा ही भव्य बनायेगा। मन ही मन वह इसके लिए संकल्पबद्ध हो गया।

अपने स्थान पर अतीव हर्ष के साथ अतिमुक्त कुमार लौटा और अपने माता-पिता से बोला- मैंने आज श्रमण भगवान महावीर के दर्शन किये।

पुत्र ! तुम्हारे नेत्र पवित्र हो गये- माता-पिता ने स्नेहपूर्वक उत्तर दिया।

मैंने भगवान की अमृत वाणी सुनी।

तुम्हारे कर्ण पवित्र हुए।

मैंने भगवान के चरण स्पर्श किये।

तुम्हारा सारा शरीर पवित्र हो गया, वत्स !

पूज्य पिताश्री एवं मातुश्री ! मैं इस पवित्र शरीर से अब केवल पवित्र कार्य ही करना चाहता हूँ- इसे पुनः अपवित्र नहीं करना चाहता।

अब तक राजा-रानी अतिमुक्त कुमार की वार्ता को बाल-सुलभ चपलता ही मान रहे थे और उसकी बातों का उत्तर दे रहे थे, परन्तु वे उसकी यह बात सुनकर एकदम चौंक से उठे एक अबोध बालक के मुँह से

प्रतिबोध प्रभाव की ऐसी गंभीर बात ? वे बोले- प्रिय वत्स ! हम तुम्हारी इस बात का अर्थ नहीं समझ पाये हैं।

पूज्यवर ! सीधा सा अर्थ है कि अब मैं भिक्षु बनूँगा। यह मेरा अटल संकल्प है। मैंने निश्चय कर लिया है कि मैं भी गौतम स्वामी जैसा बनूँगा।

यह सुनकर तो माता-पिता का चौंकना पुत्र-वियोग की आशंका में चिन्तित होने और तड़पने में बदल गया। पिता ने मुनिजीवन के कष्टों और उसकी बाल्यावस्था की याद दिलाते हुए बहुत समझाया, माँ ने ममता के आंसू बहाये, पर अतिमुक्तकिसी से भी प्रभावित नहीं हुआ। उसके अडिग निश्चय को देख्र माता-पिता ने दीक्षित हो जाने की अनुमति दी।

अतिमुक्त ने कहा- मैं भिक्षु बनूँगा और अन्ततः वह भिक्षु बन कर ही रहा। अल्प वय और भिक्षु की कठोर साधना, अतिमुक्तमुनि जूझने लगा, जीवन-विकास की ऊँचाइयों को त्वरित गति से पा लेने के लिए। अतिमुक्त मुनि भगवान महावीर के साथ ही विचरण करने लगे और करने लगे अपने ज्ञान, दर्शन, चारित्र के गुणों में अतिशय वृद्धि।

यह एक प्राकृतिक वास्तविकता है कि बालक कितने ही गंभीर दायित्व को ग्रहण कर ले अथवा चिन्तन का अभ्यासी बन जाये, फिर भी उसके स्वभाव से

चपलता और चंचलता जाती नहीं है। कभी अवसरानुसार तो वह उभर ही आती है। यही मुनि अतिमुक्त कुमार के साथ भी घटित हुआ।

एक बार वर्षाकाल था और चारों तरफ छोटे-छोटे नालों से पानी बड़े नालों में और वहाँ से नदियों में तीव्र गति से बह रहा था। अन्य स्थविर सन्तों के साथ अतिमुक्त मुनि भी विचार-भूमिका को निकले तथा शंकामुक्त होकर अन्य सन्तों से पहले ही उठ आये। मौसम सुहावना था, बादल छाये हुए थे और नालों में पानी छलछलाता हुआ बह रहा था। अतिमुक्तमुनि की बालसुलभ चपलता शान्त न रह सकी। उन्होंने अपने छोटे से खाली काष्ठ-पात्र को नाले के पानी पर इस तरह रखा, जैसे नाव तैरने लगी हो। पानी के बहाव के साथ पात्र आगे बढ़ने लगा और वे भी हर्ष-विभोर होकर उसके साथ-साथ किनारे-किनारे चलने लगे। उस पात्र की नाव जैसी गति को देखकर उनका सरल बालमन आनन्द से झूम उठा। वे भावाभिभूत होते हुए मीठी लय में गाने लगे-

देखो रे देखो, तैर रही है मेरी नाव!
बच्चों, देखो, तैर रही है मेरी नाव!
युवकों, देखो, तैर रही है मेरी नाव !
वृद्धों, देखो, तैर रही है मेरी नाव !
सन्तों, देखो, तैर रही है मेरी नाव!

और तभी स्थविर सन्तों का निवृत्ति के बाद वहाँ आगमन हो गया। मुनि अतिमुक्त को ऐसी लीला करते देख वे कुछ रुष्ट से हो गये। उनके उस रोष को देख और समझ बाल मुनि की चपलता विवेक में बदल गयी। वे समझ गये कि उन्होंने यह जो खेल किया है, वह साधुमर्यादा के अनूरूप नहीं था। वे सचेत हो गये। अपनी उस भूल पर उन्होंने पश्चात्ताप किया और आलोचना करके अपने हृदय को शुद्ध बना लिया।

किन्तु स्थविर मुनि भगवान के समीप पहुँचकर भी सहज नहीं हो पाये, वे बोले- भगवान ! अतिमुक्त मुनि का बाल स्वभाव बदला नहीं है और उससे साधु -मर्यादा पर ठेस पहुँचती है।

क्या तुम उसके द्वारा नावतिराने की बात कहना चाहते हो?

हाँ, प्रभु !

तो सुन लो, अतिमुक्तउस काष्ठपात्र की नाव को ही नहीं तैरा रहा था, अपितु समझो कि वह अपने जीवन की ही नाव को तिरा रहा था। तुम उसे मात्र बालक समझ रहे हो, किन्तु बालक समझकर उसपर रोष न करो- उसकी उपेक्षा न करो। वह स्वच्छ, पावन और सरलहृदय है- उसकी आत्मा निर्विकार है। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि वह इसी जन्म में संसार से मुक्त होनेवाला है।

क्या यह लघु मुनि इसी भव में मोक्ष पद का अधिकारी हो जायेगा?

हाँ आर्यों ! ऐसा ही होगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यह बाल मुनि अतिमुक्त शरीर से लघु है, किन्तु अपनी भावनाओं से महान एवं आत्मस्वरूप से परमोज्ज्वल है।

भगवान के वचनों में अपार श्रद्धा रखनेवाले स्थविर मुनियों ने 'तहत्' कहा और आस्था से अतिमुक्त मुनि के प्रति अपने हृदय को विनम्र बना लिया। भगवान ने उनके विचार-परिवर्तन से उन्हें समझाया-दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् प्रत्येक मुनि साधना की भूमि पर खड़ा हो जाता है और यह भूमि ऐसी है, जिस पर मात्र गुणों की ही प्रतिष्ठा होती है- वय, व्यवहार आदि सब पीछे छूट जाता है, क्योंकि गुण-वृद्धि से ही आत्मशुद्धि होती है। ऐसी ही शुद्ध आत्मा है, इस बालवय वाले अतिमुक्त मुनि की। इसका विशुद्ध व्यक्तित्व महासागर से भी अधिक गंभीर एवं हिमालय से भी अधिक ऊँचा है।

स्थविर सन्तों ने भगवान के कथन के मर्म को समझा और गुणवत्ता का महत्त्व विशेष रूप से जाना।

भगवान और सन्तों का यह वार्तालाप जब हुआ, तब अतिमुक्त मुनि वहाँ नहीं थे। उन्होंने तो स्थविर सन्तों के किंचित् रोष को देखकर ही अपनी भूल समझ ली थी और उसकी निष्ठापूर्वक आलोचना-प्रत्यालोचना कर ली थी। अब वे पूरी लगन, अपूर्व आस्था एवं एकनिष्ठ ध

यान से ग्यारह अंगों का अध्ययन एवं साधुधर्म का कठिन अनुपालन करने लगे। सबके प्रति वे विनम्र, सदाशयी एवं सेवाभावी हो गये। कठोर तपश्चरण से उनकी कोमल देह मुरझाकर शुष्क और क्षीण हो गयी। देह क्या क्षीण हुई, कि उनके पूर्वसंचित समग्र कर्म ही क्षीण हो गये। संलेखना शुद्धि के साथ उस चरम शरीरी बाल-महात्मा की आत्मा सिद्धशिला पर ज्योति में ज्योतिस्वरूप विराजमान हो गयी।

आज भी अनेकानेक कंठों से पोलासपुर के राजा विश्वदेव और रानी श्रीदेवी के सुपुत्र अतिमुक्त(अयवंता) मुनि की गुणगाथा इस प्रकार गुंजित होती रहती है- नाव तिराई ओ, अयवंता मुनिवर, बहता नीर में।

स्रोत- अन्तकृत दशा सूत्र।

सार- गुणशीलता के समक्ष सब छोटे होते हैं- वय, पद, धन आदि सब।

❖ ❖ ❖

सुवर्ण प्रतिमा के भीतर

संसार की श्री-शोभा के पीछे छिपी हुई उसकी विद्रूपता उसके मन-मानस में सत्यापित होने लगी। शरीर के अनुपम सौन्दर्य के प्रति भी उसका चित्त उदासीन रहने लगा, क्योंकि उसने आत्मिक सौन्दर्य में विचरण की तल्लीनता ग्रहण कर ली।

मिथिला नगरी के राजा कुंभ राज्यसभा में बैठे हुए थे। राजपरिवार के सदस्यों के साथ कई विद्वान् स्वप्न-पाठक भी सामने बैठे हुए थे। राजा कुंभ का मुखमंडल एक अनजानी खुशी से दमक रहा था। उनका मन अपनी रानी प्रभावती के शुभ स्वप्नों का फल जानने के लिए अधीर हो रहा था। अतः बिना समय गँवाये उन्होंने पूछना शुरु किया- विद्वान स्वप्न-पाठकों ! मैंने एक अति महत्त्वपूर्ण कार्य से आप लोगों को आमंत्रित किया है। महारानी प्रभावती ने विगत रात्रि में चौदह महास्वप्न देखे हैं, जो हैं- गज, वृषभ, सिंह, अभिषेक, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कलश, पद्म सरोवर,

सागर, विमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि। ये सभी शुभ स्वप्न हैं और एक साथ दिखायी दिये हैं। इस स्वप्न दर्शन का कोई अति विशिष्ट फल अवश्य होना चाहिए।

स्वप्न-पाठकों ने आपस में विचार-विमर्श करने के पश्चात् इन स्वप्नों के सम्बन्ध में अपना फल विश्लेषण करते हुए बताया- महाराज ! ये शुभ ही नहीं, शुभतम स्वप्न हैं। ये इस तथ्य के सूचक हैं कि महारानी के गर्भ में जो जीव स्थित हुआ है, वह दिव्य मानव होगा चक्रवर्ती या तीर्थंकर का पूर्ण स्वरूप बनेगा। इस जगत् में तीर्थंकर से बढ़कर कोई श्रेष्ठ सन्तान नहीं होती, अतः इस राज्य परिवार और समग्र राज्य के लिए यह अतीव सौभाग्यपूर्ण अवसर है।

राजा कुंभ को यह स्वप्न-फल सुनकर अपार हर्ष हुआ। उसने समुचित पुरस्कार देकर स्वप्न-पाठकों को विदा किया। जब यह संवाद महारानी को पहुँचा, तो उसके आनन्द का ठिकाना न रहा। सारे राज्य में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी।

प्रभावती सम्यक् रीति से अपने गर्भ का लालन-पालन करने लगी। नौ मास पूर्ण होने पर उसने एक अति सुन्दर एवं तेजस्विनी बालिका को जन्म दिया। वह एक स्त्री-तीर्थंकर का जन्म था। यथाविधि इन्द्रों और देवताओं ने जन्म कल्याणक मनाया और सारे राज्य में जन्मोत्सव आयोजित किये गये। माता-पिता ने अपनी लाडली पुत्री

का नाम मल्लिकुंवरी रखा। पाँच धायों द्वारा लालन-पालन की जाती हुई मल्लिकुंवरी सुरक्षित लता के समान अभिवृद्ध होने लगी। उसकी विद्या कला-निपुणता के साथ-साथ उसके अतिशय रूप की ख्याति भी चारों ओर फैलने लगी।

यौवन के प्रांगण की ओर चरण बढ़ते ही मल्लिकुंवरी अधिक विचारशील एवं चिन्तनशील रहने लगी। संसार की श्री-शोभा के पीछे छिपी हुई उसकी विद्रूपता उसके मन-मानस में सत्यापित होने लगी। शरीर के अनुपम सौन्दर्य के प्रति भी उसका चित्त उदासीन रहने लगा, क्योंकि उसने आत्मिक सौन्दर्य में विचरण की तल्लीनता ग्रहण कर ली।

एक समय मल्लिकुंवरी की चिन्तनधारा ने अपने अवधिज्ञान को स्पर्श करते हुए प्रवाहित करना प्रारंभ किया ही था कि उसके सामने उसका पूर्व भव स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित हो उठा-

उसका जीव पहले के जन्म में राजा महाबल था- उसके छः घनिष्ठ बालमित्र थे- अचल, धरण, पूरण, वसु, वैश्रमण एवं अभिचन्द्र। जब संसार से वैराग्य हुआ, तो सातों मित्रों ने एक साथ दीक्षा अंगीकार की। सातों मुनियों ने तब यह भी निश्चय किया कि वे सभी एक साथ समान तपस्या करते हुए विचरेंगे, जिससे आगामी जन्मों में भी उनकी मैत्री वैसी ही समान रूप से बनी रहे।

सबके इस निश्चय में कुछ मायाचार किया मुनि महाबल ने। उसने सोचा- यदि मैं गुप्त रूप से कुछ विशेष तपश्चरण करूँ, तो अन्य मित्रों से आगामी जन्म में विशेष स्थान पा सकूँगा। समान तपश्चरण में इस प्रकार मुनि महाबल ने भेद डाल दिया। वे अपनी तपस्या बताते अलग और करते अलग। सामान्य तपस्या से प्रतिमा और महासिंह निष्क्रीड़ित तप तक मुनि महाबल ने अपने मित्र मुनियों के साथ की ओर तीर्थंकर नाम कम के बंध के बीस बोलों की उत्कृष्ट आराधना के फलस्वरूप मुनि महाबल ने तीर्थंकर बनने का शुभतम फल तो संचित कर लिया, किन्तु मायाचार के अशुभ फल से मुक्त न रह सके और उन्हें इस जन्म में स्त्रीलिंग प्राप्त हुआ।

मल्लिकुंवरी ने अपने ज्ञानालोक में इस समग्र अतीत को देखा, तब उसकी ज्ञान-दृष्टि भविष्य की ओर मुड़ गयी- उसने यहाँ तीर्थंकर के रूप में जन्म लिया है और उसके वे छःहों मित्र भी राजपुत्रों से राजा बननेवाले हैं। ये ही राजा उसके सुवर्णमय रूप से आकृष्ट होकर एक साथ उसकी मांग करेंगे, आक्रमण करने की धमकी देंगे और उसके पिता के लिए एक गंभीर समस्या खड़ी कर देंगे। समय पर उस समस्या का समाधान मुझे ही करना होगा और इस तरह कि उन छःहों मित्रों के जीवन की समस्या का भी समाधान निकल आये।

और मल्लिकुंवरी उस समाधान की पृष्ठभूमि तैयार करने में जुट गयी।

छः हों राजाओं की कहानी भी जान लेनी चाहिए, जो पूर्वभव में मल्लिकुंवरी के मित्र थे तथा इस भव में उसके रूप-लावण्य के अभिलाषी बनने वाले थे।

पहला था साकेतपुर का राजा प्रतिबुद्धि। उसका प्रधानमंत्री सुबुद्धि राजनीति में बहुत चतुर था। एक बार राजा, रानी और मंत्री नाग-महोत्सव मनाने के लिए उद्यान में गये। वहाँ एक विशाल सिरिदामगंड अर्थात् सुन्दर मालाओं का दंडाकार समूह दिखायी दिया। उसे देख राजा को बहुत आश्चर्य हुआ। विस्मय भाव से उसने सुबुद्धि से पूछा- क्या तुमने ऐसा सिरिदामगंड पहले भी कभी देखा है? सुबुद्धि ने उत्तर दिया- मैंने एक सिरिदामगंड मिथिला में देखा था, जब वहाँ राजकुमारी मल्लि का जन्मोत्सव मनाया गया था। उसकी सुन्दरता के सामने इसकी सुन्दरता तो लाखवें अंश के बराबर भी नहीं। और उसका कारण है कि स्वयं मल्लिकुंवरी का रूप-लावण्य अतुलनीय है। कोई नहीं उस जैसा इस पूरे मध्यलोक में। राजा ने मन ही मन मल्लि के रूप-लावण्य की कल्पना की और उसकी माँग करने के लिए अपने दूत को मिथिला भेज दिया।

दूसरा था चम्पा नगरी का राजा चन्द्रछाय, जिसकी नगरी के व्यापारी जहाजों द्वारा सुदूर प्रदेशों में

व्यवसायार्थ जाया करते थे। एक बार जो व्यापारियों का दल गया, उसमें अरणक श्रावक भी था, जिसे एक पिशाच ने घोर उपसर्ग दिया, परन्तु उसकी दृढता से प्रसन्न हो गया, तो उसने उसे एक दिव्य कुंडल जोड़ी भी प्रदान की। व्यापारियों का वह दल मिथिला होकर लौटा, तो उसने मिथिला नरेश को अन्य उपहारों के साथ वह कुंडल जोड़ी भी भेंट में दी। वह कुंडल जोड़ी मल्लिकुंवरी को राजा कुंभ ने वहाँ बुलाकर पहिना दी। व्यापारी दल पुनः चम्पानगरी पहुँचा, तो राजा चन्द्रछाय को अपनी यात्रा का वृत्तान्त सुनाते हुए उसने राजा कुंभ की पुत्री मल्लिकुंवरी के अपूर्व सौन्दर्य की सराहना की। उसे सुनकर राजा चन्द्रछाय व्यामोहित हो गया और उसने मल्लिकुंवरी के हाथ की माँग करते हुए शीघ्र अपना दूत मिथिला नगरी को रवाना कर दिया।

तीसरा था श्रावस्ती का राजा रूपी। उसकी रानी का नाम धारिणी और पुत्री का नाम सुबाहुकुमारी था। एक समय उसने बड़े धूमधाम से अपनी पुत्री का स्नान-महोत्सव किया। ऐसा भव्य आयोजन पहले कोई अन्य राजा न कर सका होगा। रूपी ने अपने मंत्री वर्षधार से पूछा- क्या पहिले तुमने कभी ऐसा स्नान-महोत्सव देखा है? मंत्री ने उत्तर दिया- उसने मिथिला के राजा कुंभ द्वारा उसकी पुत्री मल्लिकुंवरी का स्नान-महोत्सव देखा था, जिसकी शोभा इस आयोजन से लाख गुनी

अधिक थी। यही नहीं, उसने मल्लिकुंवरी को भी देखा था, जो अद्वितीय रूपवती है। राजा के मन में मल्लिकुंवरी को पा लेने की आतुरता जाग उठी और उसने राजकुमारी की मांग का संदेश अपने दूत के हाथ दे उसे मिथिला भेज दिया।

चौथा था वाराणसी का राजा शंख। एक बार मल्लिकुंवरी की उस दिव्य कुंडल जोड़ी की एक स्थान पर संधि खुल गयी तो उसे जोड़ने के लिए स्वर्णकार के पास भेजी गयी। वह उसे जोड़ नहीं सका। वह क्या, कोई भी स्वर्णकार जोड़ नहीं सका। राजा कुंभ ने कुपित होकर सभी स्वर्णकारों को नगरी से निकाल दिया। वे सभी स्वर्णकार वाराणसी चले गये और राजा शंख से निवास की अनुमति माँगते हुए उन्होंने मल्लिकुंवरी के अद्‌भुत लावण्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसे सुन राजा शंख की मल्लिकुंवरी को प्राप्त करने की उत्कंठा प्रबल रूप ले बैठी और उसने वैसी याचना का सन्देश दे अपने दूत को तुरन्त मिथिला भेजा।

पाँचवा था हस्तिनापुर का राजा अदीनशत्रु। एक बार मिथिला के राजकुमार मल्लदिन्न ने सभाभवन को चित्रित करने का काम एक कुशल चित्रकार को सौंपा। वह चित्रकार कुशल ही नहीं, लब्धिधारी भी था। लब्धि ऐसी थी कि यदि किसी पुरुष या नारी के किसी अंग का अंश मात्र भी देख ले, तो वह उसका पूरा यथावत् चित्र

चित्रित कर सकता था। राजभवन को चित्रांकित करते हुए एक बार उसे मल्लिकुंवरी के पैर का मात्र अंगूठा दिखायी दे गया, उस पर उसने उसका पूरा चित्र सभाभवन में चित्रित कर दिया। उसे देखकर राजकुमार व्यामोहित हुआ, पर उसने जाना कि यह मल्लि का चित्र है, तो वह क्रुद्ध हो गया और उसने उसी समय चित्रकार को निकाल दिया। अपमानित होकर चित्रकार हस्तिनापुर पहुँचा तथा मल्लिकुंवरी का एक और चित्र बनाकर उसने राजा अदीनशत्रु को भेंट किया। चित्र इतना सजीव था कि राजा पल भर में ही मुग्ध हो गया। उसने उसी समय अपने दूत के हाथ मिथिला सन्देश भिजवाया कि मल्लिकुंवरी का हाथ उसे अविलम्ब सौंप दिया जाये- यदि विलम्ब या इन्कार हुआ तो परिणाम मंगलकारी नहीं होगा।

छठा था कम्पिलपुर का राजा जितशत्रु। एक समय चोक्ष नामकी परिव्राजिका मिथिला में आकर मल्लिकुंवरी को शुचि धर्म का उपदेश देने के लिए पहुँची। उसने बतलाया- हमारे धर्मानुसार अपवित्र वस्तु की शुद्धि जल और मिट्टी द्वारा होती है। मल्लिकुंवरी ने कहा- परिव्राजिके ! रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर क्या उसकी शुद्धि हो सकती है? परिव्राजिका ने कहा- नहीं। तब कुंवरी ने समझाया- इसी प्रकार हिंसा से हिंसा की शुद्धि नहीं हो सकती। इस प्रकार परिव्राजिका निरुत्तर

होने से रुष्ट होकर वहाँ से चली गयी। वह हस्तिनापुर पहुँची और राजा जितशत्रु से मिली। उसने वहाँ मल्लिकुंवरी की अपूर्व सुन्दरता का बखान किया और कहा कि उसके पैर के अंगूठे की शोभा के समान भी उसके सारे अन्तःपुर की शोभा नहीं है। राजा की सौन्दर्य-पिपासा उभर आयी और उसने राजकुमारी की माँग करते हुए अपना दूत मिथिला को भेज दिया।

यों छःहों राजाओं के दूत मिथिला पहुँच गये- राजकुमारी मल्लि एक थी और उसके उग्र अभिलाषी बने हुए थे- ये छःहों राजा। स्थिति विचित्र ही नहीं, विडम्बनापूर्ण हो गयी थी।

साकेतपुर, चम्पा, श्रावस्ती, वाराणसी, हस्तिनापुर और कम्पिलपुर के राजदूतों से एक-सा सन्देश प्राप्तकर राजा कुंभ एकदम क्रुद्ध हो गये। सभी राजा शक्तिशाली थे और उनके प्राप्त सन्देशों से प्रतीत होता था कि यदि उनकी माँग स्वीकार नहीं की जाती है, तो वे मिथिला पर आक्रमण करने से भी नहीं चूकेंगे। राजा कुंभ का क्रोध बढ़ता गया। एक तो अनुचित मांग करते हैं और दूसरे ऊपर से धमकी देते हैं, जैसे सौम्य व्यवहार को तो ये लोग घोलकर पी गये हैं। राजा तो सामने थे नहीं, उनका क्रोध दूतों पर ही बरसा। वे एक-एक करके घोर अपमान के साथ नगर से बाहर निकाल दिये गये।

अपमानित दूतों ने अपने-अपने राजा को सारा वृत्तान्त सुनाया। दूत के अपमान को राजाओं ने अपना अपमान समझा और इस अपमान का बदला लेने के लिए वे उतावले हो उठे। इस उतावलेपन के पीछे उनकी निराशा ने भी उन्हें अधिक पागल बनाया कि वे राजकुमारी मल्लि की सुवर्णमय देह रूप प्रतिमा को प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

राजाओं के मोहावेश ने भीषण रूप ले लिया- भीषण ही नहीं, घातक भी। प्रत्येक राजा ने अपनी सेना सज्जित की और अलग-अलग दिशाओं से पहुँचकर मिथिला नगरी के बाहर पड़ाव डाल दिये। वहाँ से उन्होंने अपने-अपने दूत के हाथ इस प्रकार का सन्देश राजा कुंभ के पास भेजा-

आपने हमारे दूतों का नहीं, हमारा अपमान किया और उसे हम नहीं सहेंगे। हमारी सेना ने आपकी नगरी के बाहर पड़ाव डाल दिया है, अब यदि आप तत्काल हमारे साथ अपनी पुत्री के विवाह का निश्चय नहीं करेंगे, तो हमारी सेना मिथिला पर आक्रमण कर देगी, क्योंकि कैसे भी हो, मल्लिकुंवरी तो हमें प्राप्त करनी ही है।

छहों राजाओं की सेनाओं ने मिथिला नगरी को घेर लिया है और निराशा के किसी क्षण में वे आक्रमण एवं महाविनाश करने पर उतारु हैं- राजा कुंभ गंभीर चिन्ता में मग्न हो गये और ऐसे आसन्न महासंकट की

वेला में किंकर्त्तव्यविमूढ़ भी कि क्या करें और क्या न करें। न चाहते हुए भी मल्लिकुंवरी का हाथ किसी एक राजा को देना स्वीकार भी कर लें, तब भी संकट कहाँ मिटता है? क्या अन्य पाँच राजा ऐसा होने पर शान्त बैठ जायेंगे? युद्ध तो तब भी होगा, महाविनाश तब भी होगा। एक राजकुमारी छः राजाओं के साथ तो ब्याही नहीं जा सकती, फिर कैसे करें, इस संकट का कोई भी समाधान?

राजा कुंभ की चिन्ता गहरी से गहरी होती गयी और वे एकाकी अपने कक्ष में उदास लेट गये। सोचने लगे- दूतों के इन सन्देशों का उनके राजाओं को क्या उत्तर भिजवायें ? कैसा भी उत्तर उनकी समझ में नहीं आ रहा था।

इसी समय कक्ष में मल्लिकुंवरी ने प्रवेश किया। पिता के विवर्ण मुख को देख वह चौंक उठी, द्रवित होकर रुँधे हुए कंठ से वह बोली- पूज्य पिताश्री ! आपकी ऐसी गहरी चिन्ता का क्या कारण है? मुझे बताइए ताकि मैं भी उसके निवारण का कोई उपाय सोच सकूँ।

तुम्हें क्या बताऊँ पुत्री, कि यह कैसी दुश्चिन्ता है और बताये बिना भी रह नहीं पाऊँगा, क्योंकि उसका कोई हल मेरी समझ में नहीं आ रहा है- यह कहते हुए पिता ने बड़े दुःख के साथ उसी से सम्बन्धित चिन्ता पुत्री को बता दी।

मल्लिकुंवरी ने सम्पूर्ण वृतान्त सुना और अपने पिता को आश्वस्त किया- मुझे इस संकट का पूर्व ज्ञान

था और इसके निवारण की समस्त व्यवस्था मैंने कर रखी है। आप कोई चिन्ता न करें।

तो प्रिय पुत्री ! तुम्हीं बताओ कि अब मैं क्या करूँ? राजा अधीर था।

पिताश्री ! आप केवल इतना कीजिए कि प्रत्येक दूत को अलग-अलग बुलाकर उस से यह उत्तर भिजवा दें- हमें आपका प्रस्ताव स्वीकार है। अतः आप युद्ध का विचार त्याग दें और अमुक समय एकाकी हमारे नवनिर्मित मोहनघर में पधार जायें- बस ! इतनी सतर्कता रखें कि इस सन्देश की किसी अन्य राजा को भनक तक न लगे।

कुंवरी, तुमने मिथिला को महासंकट से बचा लिया। तुम्हारी बुद्धि अतीव विलक्षण है।

यह कुछ नहीं, पिताजी ! आप प्रत्येक राजा के आगमन की समय सूचना इस प्रकार दें कि मोहनघर में प्रवेश के पहले कोई राजा किसी दूसरे राजा को वहाँ आते देख न सके। आगे के कार्य से आप निश्चिन्त रहें।

जैसे मल्लिकुंवरी ने बताया, वैसा ही उत्तर राजा कुंभ ने प्रत्येक राजा को भेज दिया और वैसी ही व्यवस्था उनके मोहनघर में आगमन की कर दी। प्रत्येक राजा उस सन्देश को एकदम गुप्त रखे, उस दृष्टि से कुंभ ने उत्तर में यह जोड़ दिया कि राजकुमारी एक है और अभिलाषी राजा छः, किन्तु परिणय तो एक ही के साथ हो सकेगा,

अतः सन्देश की गोपनीयता अनिवार्य है।

यह मोहनघर क्या है? इसे भी जानना होगा। इसी मोहनघर में ही तो छःहों राजाओं को आमंत्रित किया गया था।

पूर्व विचारित योजना के अनुसार मल्लिकुंवरी ने मोहनघर का निर्माण करवाया था। एक गोलाकार भवन जिसके चारों ओर पृथक् पृथक् प्रवेश द्वारवाले कक्ष, जो मध्य भाग में खुलते थे। मध्य में ऊँचा मंच, जिस पर एक स्वर्ण-प्रतिमा स्थापित की गयी थी। स्वर्ण-प्रतिमा की बनावट ऐसी सुघड़ कि जैसे स्वयं मल्लिकुंवरी खड़ी हो, वही वर्ण, वही आकार और वही रूप-लावण्य। कोई नहीं सोच सकता कि वह सजीव मल्लिकुंवरी नहीं है। किसी कक्ष का किसी अन्य कक्ष में खुलनेवाला कोई द्वार नहीं था।

इस स्वर्ण-प्रतिमा की भी अपनी विशेषता थी। स्वर्ण-प्रतिमा सबसे पहले बनायी गयी थी और उसके शीर्ष पर एक ढक्कन रखा गया था। प्रतिदिन वही भोजन, जो स्वयं मल्लिकुंवरी खाती थी, वह ढक्कन खोलकर उसमें डाला जाता था और तब उसे मजबूती से बन्द कर दिया जाता था। इस तरह सड़ते हुए भोज्य पदार्थों की दुर्गंध बाहर नहीं निकल पाती थी।

ऐसा था उस स्वर्ण-प्रतिमा का बाहर का

रूप-स्वरूप और भीतर का रूप-अपरूप !

यथासमय छहों राजाओं को भिन्न-भिन्न द्वारों से भिन्न कक्षों में प्रवेश कराया गया। किसी को भी यह ज्ञात नहीं हो सका कि उसके सिवाय अन्य कोई राजा भी उसी मोहनघर में उपस्थित है। मोहनघर में प्रवेश करते ही प्रत्येक राजा की प्रथम दृष्टि उस सुवर्ण-प्रतिमा पर पड़ी और उसका मन चहक उठा कि यह देवकन्या समान रूपसी स्वयं खड़ी है। सब एकटक उस ओर निहारते रहे।

तभी मंच पर स्वयं मल्लिकुंवरी उपस्थित हुई। सब आश्चर्यान्वित कि यह क्या? एक साथ दो मल्लिकुंवरियाँ कैसे? वर्ण और आकार में दोनों एकदम एकसी, परन्तु शरीर चालन से ज्ञात हो गया कि कौनसी प्रतिमा वास्तविक है।

मल्लिकुंवरी ने सबका प्रबल मोहावेग महसूस किया और बिना कुछ कहे- सुने उस स्वर्ण प्रतिमा का ढक्कन उघाड़ दिया। वह ढक्कन क्या उघाड़ा गया कि एक असह्य दुर्गंध सारे मोहनघर में फैल गयी। सब अपने-अपने मुँह कपड़े से ढक नाक-भौं सिकोड़ने लगे। इस अशान्त वातावरण के बीच अपनी उद्‌बोधक वाणी में राजकुमारी मल्लि बोली- यह क्या? इतनी रूपवती प्रतिमा से आपने यों अपना मुँह फेर लिया? यह तो वही प्रतिमा है, जिसे आप वास्तविक समझकर मोहित और हर्षित हो रहे थे। मैंने तो केवल इसका ढक्कन ही खोला

है। आप प्रतिमा के बाह्य रूप पर लुब्ध थे और उसी प्रतिमा के भीतर क्या है, यह जानने का प्रयास आपने नहीं किया। अब इस सुवर्ण प्रतिमा के भीतर का अनुभव लेकर इस प्रकार खिन्न क्यों हो गये हैं? इस स्वर्ण प्रतिमा के समान ही इस मल्लिकुंवरी की भी सुवर्ण प्रतिमा है। इसके भीतर भी वही अशुद्धि है, जिसका आप अनुभव कर रहे हैं। फिर मैं पूछती हूँ कि अशुचि के घर और नाशवान इस शरीर पर आपका मोह क्यों है?

मैं आपको बता दूँ कि आप छःहों राजा इस समय यहाँ उपस्थित हैं और आप छःहों मेरे मित्र हैं। अपने पूर्वजन्म का स्मरण कीजिए। हम सातों घनिष्ठ मित्र थे, साथ ही दीक्षित हुए और साथ ही संयम पालते रहे। अब फिर वही पावन कार्य हम सब साथ होकर क्यों न करें?

सभी राजाओं ने अपने जातिस्मरण ज्ञान से अपने पूर्वभव को जाना, मोहदशा त्यागी और मल्लिकुंवरी के साथ ही दीक्षित हो गये। मल्लिकुंवरी भगवान तीर्थंकर मल्लिनाथ बनी, तीर्थ संस्थापक धर्म प्रतिबोधक एवं अन्त में मोक्षप्राप्त।

स्रोत-ज्ञाता धर्म कथा सूत्र।

सार-(1) अशुचिपूर्ण शरीर पर मोह व्यर्थ है।

(2) तपश्चरण में भी मायाचार निषिद्ध है।

❖ ❖ ❖

चावल के पाँच दाने

धन्ना सेठ का म्लान बना मुख यकायक खिल उठा। बहुओं की परीक्षा का उनका कार्य पूरा हो चुका था। अब तो प्रत्येक की योग्यता के अनुसार कार्य विभाजन का निर्णय ही उन्हें सुनाना था ताकि घर का संचालन भविष्य में सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे।

कार्य-विभाजन का आधार परम्परा रखी जाये या योग्यता बनायी जाये- यह एक प्रश्न है। कुछ मानते हैं कि परम्परा से जिस प्रकार का कार्य-विभाजन चल रहा है, उसे वैसे ही चलते रहने दिया जाये, किन्तु किन्हीं अन्य की मान्यता यह है कि कार्य के श्रेष्ठ रीति से सम्पादन के लिए कार्य-विभाजन का आधार योग्यता होना चाहिए।

वस्तुतः कार्य-विभाजन के पीछे उसकी सुव्यवस्था का ही उद्देश्य होता है। जैसे किसी संस्था का संचालन कार्य है। यदि इस सारे कार्य को एक ही व्यक्ति करता है, तो वह उसे कुशलतापूर्वक नहीं कर सकेगा। यदि उसी संचालन के विभिन्न पक्षों का कार्य विभिन्न

व्यक्तियों को सौंप दिया जाये, तो संचालन का सम्पूर्ण कार्य विशेष कौशल के साथ हो सकेगा। इस पर भी यदि प्रत्येक पक्ष की गुणवत्ता के आधार पर तदनुसार योग्य व्यक्ति का चयन किया जाये, तो वैसा संचालन सर्वश्रेष्ठ बन सकेगा।

ऐसे ही विचारों में उलझ रहे थे- राजगृही नगरी के प्रमुख सार्थवाह धन्ना सेठ, जो अतीव समृद्ध होने के साथ-साथ बुद्धि-सम्पन्न, विवेकी एवं धर्मनिष्ठ भी थे। उनके चार पुत्र थे- धनपाल, धनदेव, धनगोप और धनरक्षित। चारों पुत्रों का विवाह हो चुका था और क्रमशः उनकी पत्नियों के नाम थे- उज्झिका, भोगवती, रक्षिका और रोहिणी।

धन्ना सेठ आगे विचार करने लगे- मेरी पर्याप्त आयु हो चली है और कहा नहीं जा सकता कि कब ऐसी हवा का झोंका आये, जो पीले पत्ते को पेड़ से अलग कर दे? मेरा गृह संचालन सुचारु बना रहे- इस हेतु चारों बहुओं में इस कार्य का विभाजन कर देना चाहिए। उन्होंने निश्चित रूप से विभाजन को योग्यता पर आधारित करने का निर्णय लिया और योग्यता परख की वस्तु होती है, अतः चारों बहुओं की परीक्षा लेकर प्रत्येक की योग्यता के अनुरूप उसे गृहकार्य का दायित्व सौंपना चाहिए। ऐसा निर्णय ले उन्होंने चारों बहुओं को अपने पास बुलाया। सब कुटुम्बियों को भी बुला लिया।

चारों बहुओं ने आकर अपने श्वसुर को प्रणाम

किया और विनीत स्वर में पूछा- पूज्यवर ! हमें किस प्रयोजन से बुलाया गया है ? जो भी हो, हमें आज्ञा दीजिए।

बेटियों ! वास्तव में मैंने तुम चारों को एक विशेष प्रयोजन से ही बुलाया है। सबके सामने मैं तुम में से प्रत्येक को ये शार्ली के पाँच-पाँच दाने दे रहा हूँ- इनकी सुरक्षा और वृद्धि का ध्यान रखना और जब इन्हें मैं वापिस माँगूं, मुझे लौटा देना।

धन्ना सेठ ने तब चारों बहुओं को चावल के पाँच-पाँच दानें दिये और विदा कर दी। फिर उन्होंने कुटुम्बियों से कहा- इन चारों बहुओं से जब मैं ये दाने वापिस माँगूंगा, तब भी मैं आपको वापिस यहाँ आने का कष्ट दूंगा। उस समय ही आप शालि के इन पांच दानों का रहस्य समझ पायेंगे।

चारों बहुएँ शालि के वे पाँच-पाँच दाने लेकर अपने-अपने कक्ष में चली गयी और अपने श्वसुर द्वारा सौंपे गये इस दायित्व के विषय में चारों की विचारधारा अलग-अलग दिशाओं में प्रवाहित होने लगी।

उज्झिका ने सोचा- श्वसुर जी सचमुच सठिया गये हैं, वरना इस सम्पन्न घर में बहुओं को देने के लिए उन्हें शालि के पाँच दाने ही मिले क्या ? शालि की इस घर में क्या कोई कमी है ? जब माँगेंगे, पाँच दाने निकाल कर दे दूँगी। यह सोच उसने उपेक्षापूर्वक श्वसुर जी द्वारा दिये हुए शालि के उन पांच दानों को कचरे में फेंक दिया।

दूसरी बहू भोगवती के मन में विचार पैदा हुआ- ठीक है, श्वसुर जी ने कोई आभूषण या रत्न नहीं दिया, केवल शालि के पाँच दाने ही दिये। परन्तु ज्येष्ठ पुरुष द्वारा प्रदत्त वस्तु का अनादर नहीं करना चाहिए। उसे प्रसाद समझना चाहिए। इस विचार के साथ वह उन पांचों दानों को खा गयी।

रक्षिता ने अपने मन में माना कि श्वसुर जी ने शालि के ये पाँच दाने सबके सामने दिये हैं, तो इसका कुछ न कुछ महत्त्व अवश्य है। जिससे इन दानों को सुरक्षा के साथ सम्हाल कर रख लेना चाहिए और श्वसुर जी जब माँगें, वापिस लौटा देना चाहिए। तब उसने एक छोटी सी डिबिया में इन पाँच दानों को रखा, उस छोटी डिबिया को बड़ी डिबिया में और बड़ी डिबिया को सन्दूक में रखकर पूर्णतया सुरक्षित कर दिया।

चौथी बहू रोहिणी परम बुद्धिशालिनी एवं कला-विद्या-सम्पन्न थी। उसने अपने अन्तःकरण की गहराई में उतरकर चिन्तन किया- श्वसुर जी के इस दायित्व को सौंपने में कोई न कोई विशिष्ट रहस्य अवश्य है। ये शालि के पाँच दाने सामान्य प्रयोजन लिए हुए नहीं हैं। उन्होंने इन दानों की सुरक्षा के साथ वृद्धि की भी भलामण दी थी, यह विचारणीय विषय है। विचारों के व्यूह को पारकर उसने निर्णय लिया कि इन पाँचों दानों को अपने पीहर भिजवा दिया जाये, जहाँ उसके पिताश्री इन्हें अलग बुवादें, फिर उससे जितने दाने निकलें, उन्हें

अगली फसल में बुवादें और प्रतिवर्ष ऐसा करते रहें, जब तक कि तब तक कि सम्पूर्ण उत्पादन को मैं यहाँ भिजवा देने के लिए न लिखूँ। तब उसने इस विवरण के साथ वे पाँच दाने अपने पीहर भिजवा दिये।

एक-एक करके पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। धन्ना सेठ ने कोई सुध नहीं ली। फिर एक दिन अचानक उन्होंने अपने कुटुम्बीजनों को और चारों बहुओं को बुला भेजा। साथ में प्रमुख पुरजनों को भी इस बार बुलवाया गया। सबके आ जाने पर धन्ना सेठ बोले- बेटियों ! याद है न, कि पांच वर्ष पहले मैंने तुम चारों में से प्रत्येक को शालि के पाँच-पाँच दाने दिये थे और जब माँगूं, उन्हें वापिस मुझे लौटाने के लिए भी कहा था?

याद है पूज्यवर-चारों बहुओं ने एक साथ उत्तर दिया।

अच्छा तो उज्झिका पुत्री ! वे पाँचों दाने मुझे लौटा दो।

पिताश्री ! अपने घर में शालि की क्या कमी है, आप कहें, उतने दाने कोठार से लाकर देदूँ। वे दाने तो उसी दिन मैंने कचरे में फेंक दिये थे।

तुम तो वे दाने लायीई हो, भोगवती पुत्री, या तुमने भी उन्हें फेंक दिये?

मैं आपके दिये हुए दानों का अनादर कैसे करती? मैं श्रद्धापूर्वक उन्हें उसी दिन खा गयी थी। अभी आप आज्ञा दें, तो कोठार से दाने ले आऊँ।

नहीं, उसकी जरूरत नहीं। रक्षिका बेटी, तुमने उन पाँच दानों का क्या किया?

वह तत्क्षण उठी और अपने कक्ष से एक सन्दूक ले आयी, सन्दूक खोल बड़ी डिबिया निकाली, बड़ी डिबिया खोल छोटी डिबिया और छोटी डिबिया को खोलकर रक्षिका ने वे ही पाँच दाने अपने श्वसुर के हाथ पर रख दिये और कहा- पूज्यवर ! मैंने आपके द्वारा प्रदत दानों की आप देख लीजिए, पूरी सुरक्षा की है। अब तो कृपया बताइए कि इन दानों का महत्त्व क्या है?

अभी बताऊँगा पुत्री ! पहले इन दानों के बारे में रोहिणी पुत्री को भी तो पूछ लेने दो। रोहिणी बेटी ! वे दाने तुम भी ले आओ।

पूज्य पिताश्री, उन दानों को मैं उठाकर नहीं ला पाऊँगी। उनके लिए आपको अनेक शंकर (गाड़े) मेरे पीहर भिजवाने होंगे।

यह क्यों? तुम्हारी बात मैं समझा नहीं।

आपने आज्ञा दी थी कि उन पाँच दानों की सुरक्षा भी की जाये और वृद्धि भी। मैंने अपने पीहर में उन पाँच दानों की और प्रति फसल उनसे उपजने वाले दानों की पृथक बुआई की व्यवस्था करवायी। पाँच वर्ष में वे पाँच दाने अनेकानेक शालि दानों के रूप में परिणत हो गये हैं। उन्हें भला, मैं उठाकर कैसे ला सकती हूँ?

धन्ना सेठ का म्लान बना मुख यकायक खिल

उठा। बहुओं की परीक्षा का उनका कार्य पूरा हो चुका था। अब तो प्रत्येक की योग्यता के अनुसार कार्य विभाजन का निर्णय ही उन्हें सुनाना था ताकि घर का संचालन भविष्य में सुव्यवस्थित रूप से चलता रहे। उन्होंने उपस्थित समुदाय के समक्ष बोलना प्रारंभ किया-

मेरी मान्यता है कि प्रत्येक को, चाहे वे परिवार या संस्था के सदस्य हों अथवा समाज या राष्ट्र के, उसकी योग्यता के अनुरूप यदि कार्य का विभाजन न किया जाये, तो वह संचालन कभी सुचारु स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकेगा। मैंने आपको यहाँ आने का कष्ट इसी कारण दिया है कि मैंने अपने गृहसंचालन हेतु जो योग्यता की परीक्षा अपनी बहुओं की ली उसके परिणाम से अवगत करा सकूँ।

वे आगे बोले- मेरी चारों बहुओं के उत्तर आप सुन चुके हैं, तो उनको योग्यता के आधार पर दिये जानेवाले दायित्व के विषय में मेरा निर्णय भी सुन लीजिए। उज्झिका बहू ने अत्यन्त असावधानी का व्यवहार किया है, वह सम्पत्ति की रक्षा का या अन्य महत्त्व का दायित्व नहीं संभाल पायेगी, अतः घर में सफाई करने, लीपने-पोतने जैसा कार्य ही वह सम्हालेगी। भोगवती बहू उससे विनीत अधिक है, पर सम्पत्ति-रक्षा में उसमें भी सावधानी नहीं दिखायी दी, अतः उसके जिम्मे पीसने-कूटने, भोजन बनाने और परोसने का काम दिया जाता है। रक्षिका बहू ने सुरक्षा का सतर्क प्रयास दिखाया है, अतः वह रत्न, स्वर्ण, आभूषण, धन, धान्य आदि को सुरक्षित रूप से रखने के

दायित्व का निर्वाह करेगी। परन्तु रोहिणी बहू की जितनी प्रशंसा मैं करूँ, वह कम होगी। एक श्रेष्ठि परिवार के लिए सम्पत्ति की वृद्धि का कार्य सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है और रोहिणी पुत्री ने वह कार्य आशा से भी अधिक सफलता के साथ करके दिखाया है, अतः वही गृहलक्ष्मी अथवा गृहस्वामिनी बनाये जाने योग्य है। सारी कुंजियाँ उसी के पास रहेंगी और वही सभी बहुओं को निर्देशित भी करेगी।

धन्ना सेठ का ऐसा सुयोग्य निर्णय सुनकर सभी अवाक् रह गये। वे सोचने लगे- यदि मात्र परम्परा का ही पालन किया जाता, तो गृह स्वामिनी का पद उज्झिका ही पाती। वैसी स्थिति में गृह व्यवस्था की कैसी दुर्दशा होती, इसका अनुमान भी नहीं लगाया जा सकता। इस कारण धन्ना सेठ ने जिस योग्यता के आधार को लिया है, वही आधार सर्वत्र अपनाया जाना चाहिए। यही बात प्रकट रूप से पुर के एक प्रमुखजन ने कही और धन्ना जी की बुद्धि की प्रशंसा की।

स्रोत- ज्ञाता धर्मकथा सूत्र।

सार- प्रत्येक व्यक्ति के लिये दायित्वबोध की महती आवश्यकता होती है, परन्तु साधु-साध्वी के लिए सर्वाधिक। वे अपने गृहीत व्रतों का न तो उज्झिका और भोगवती की तरह त्याग करें, न रसना के लोभ में पड़े, अपितु रक्षिका की तरह व्रतों को सुरक्षित रखें तथा रोहिणी की तरह उन्हें विकसित एवं अभिवृद्ध बनाये। ❖❖❖

यात्रा लौह से रत्न तक

प्रत्येक पुराने को फेंकते ही रहने का हमारा भी लक्ष्य नहीं है, किन्तु हम हमारे विवेक की खिड़कियाँ सदा खुली रखते है। पुराना ही रखे रहें या नया ही अपनावें- इसकी कसौटी यह है कि दोनों में से कौनसा हमारे लिए अधिक लाभकारी, गुणकारी और हितकारी है।

कर्मगति कभी टलती नहीं, मित्रों ! अपने व्यापार में जो घातक हानि होनी थी, वह हो चुकी। अब हम कब तक निराशा का दुःख भोगते रहेंगे ? हम आखिर पुरुष हैं, फिर पुरुषार्थ करें- हमारे दिन अवश्य फिरेंगे, व्यापारी दल के एक सदस्य ने अपने घनिष्ठ मित्रों को सलाह दी, जो संयुक्तरूप से व्यापार किया करते थे तथा उस व्यापार के अन्तिम दौर में इतनी अधिक हानि हुई थी कि वे सब कुछ गुमा बैठे थे और एकदम दरिद्र हो गये थे।

मित्र ! तुम सत्य कह रहे हो। हमें अपनी व्यापार-हानि का दुःख बहुत है, परन्तु दुःख ही करते रहने से तो कुछ मिलेगा नहीं। हमें कुछ न कुछ नया उद्यम करना ही चाहिए, एक अन्य मित्र ने दी गयी

सम्मति का समर्थन किया।

फिर सब मित्रों ने मिलकर निश्चय किया कि चूंकि उनके पास नया कोई व्यापार करने के लिए कुछ भी धन नहीं है, अतः परदेश चला जाय और कोई नया उपक्रम करके पुनः धनार्जन किया जाये। तब सबने उस नगर से साथ-साथ ही परदेश के लिये प्रस्थान किया।

चलते-चलते वे मार्ग भूल कर एक सघन वन में जा पहुँचे। एक बार तो चारों ओर बियावान देखकर वे घबरा उठे, किन्तु वहाँ से निकले बिना भी तो कोई चारा नहीं था। वे आगे से आगे चलते रहे। सभी मित्र एक ऐसे पहाड़ी प्रदेश में पहुँच गये, जहाँ चारों ओर खानें ही खानें दिखायी दीं। पास जाने पर ज्ञात हुआ कि वे लौह धातु की खानें हैं। सभी मित्रों ने राय मिलायी और यथाशक्ति लोहे की गांठें बाँध लीं। वे प्रसन्न थे कि यह लोहा बेचकर जो धन मिलेगा, उससे वे अपना व्यापार जमा लेंगे।

लोहे का भारी बोझ अपने सिरों पर उठाये वे मित्र आगे चलने लगे। आगे चलने पर उन्हें त्रपुष धातु (शीशा, रांगा) की खानें मिलीं। वहाँ सभी रुके और उन्होंने निश्चय किया कि लोहे से शीशा महँगा होता है, इसलिए अब हमें अपनी गाँठों में से लोहा फेंककर उनमें शीशा बाँध लेना चाहिए। सबने वैसा ही किया, लेकिन एक मित्र अड़ गया। वह बोला- तुम सब अस्थिर-चित्ती दिखायी देते हो। एक बार जो निर्णय लिया, उस पर

स्थिर रहना चाहिए। लोहा लेने का निर्णय लिया तो लोहा ही रखना चाहिए- बार बार मन को क्या बदलना? मैं तो अपने निर्णय में स्थिरता रखूँगा तुम चाहे जो करो। उस मित्र ने लोहे को नहीं फेंका और उन्हीं गांठों को उठा कर आगे चला।

सभी साथी आगे बढे, तो चांदी की खानें दिखायी दीं। एक मित्र के अलावा सब ने शीशा फेंक दिया और चाँदी की गाँठें बाँध ली, पर वह मित्र तो लोहा ही उठाये रहा। आगे सोने की खानें मिलीं, सबने सोना भर लिया। किन्तु बहुत समझाने-बुझाने पर भी उस मित्र ने लोहा नहीं छोड़ा, वह अपनी जिद्द पर ही अड़ा रहा। आगे चलकर रत्नों की खानें मिलीं, सबने रत्नों से अपनी गांठें भर ली और लौहवणिक् को बहुत समझाया- अब तो अपना लोहा फेंक दे। तेरे सारे लोहे के भार से भी अधिक एक रत्न का मूल्य प्राप्त होगा। फिर सोच कि रत्नों से भरी हुई गांठों का हमें कितना अधिक धन प्राप्त हो जायेगा? तब तो व्यापार तक करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इसलिए मूर्खता न कर और लोहा फेंक कर रत्नों से गांठें भर ले।

लौहवणिक् खीझकर बोला- तुम लोग तो अच्छा देखकर नया-नया लेते जाते हो, जैसे कि पुराने का कोई महत्त्व और मूल्य ही न हो। पुराने के साथ उसे ढोने का जो हमारा श्रम जुड़ा है, उसे क्या व्यर्थ कर दें? आप तो अपने निर्णयों को गाड़ी के पहियों की तरह नित बदलते जाते हो, मैं ऐसा अवसरवादी नहीं हूँ। मेरे अपने सिद्धान्त

हैं और उनसे मैं चलायमान नहीं होऊँगा। मैंने एक बार जो लोहा ले लिया, उसी का भार वहन करूंगा। आप तो लोभ के पीछे दौड़ते हैं, बात भी कोई चीज होती है। इतनी दूर से जिसे सिर पर ढोये आ रहा हूँ, उसे फेंक देने की मूर्खता मैं नहीं करूँगा।

साथियों ने जब उसकी ऐसी विचित्र मनः स्थिति देखी, तो उन्हें यह सोचकर अतीव कष्ट हुआ कि हम सब तो धनाढय और सम्पन्न हो जायेंगे, किन्तु हमारा यह अकेला साथी पुराने को पकड़े रहने के अपने दुराग्रह के कारण दरिद्री ही रह जायेगा। अतः उन्होंने उसे समझाने का एक प्रयास और किया। लौह का ही भार उठाये रखनेवाले हमारे मित्र ! हम तुम्हें समझा रहे हैं, तुम समझते क्यों नहीं? प्रत्येक पुराने को फेंकते ही रहने का हमारा भी लक्ष्य नहीं है, किन्तु हम हमारे विवेक की खिड़कियाँ सदा खुली रखते हैं। पुराना ही रखे रहें या नया ही अपनावें- इसकी कसौटी यह है कि दोनों में से कौनसा हमारे लिए अधिक लाभकारी, गुणकारी और हितकारी है। हम न तो पुराने को ही पकड़े रखने का दुराग्रह करते हैं और न ही नये को अपनाते रहने का हठ। हमारे विवेक को दोनों ही स्वीकार नहीं है। इसलिए हम तुम्हें भी कहते हैं कि तुम हमारे विचारों को समझो और अपने विवेक को जागृत बनाओ। विवेक के जागरुक रहने से ही सुख की उपलब्धि होती है।

फिर भी वह मित्र नहीं माना, उल्टे उन्हें ही कोसते हुए कहने लगा- तुम सब बेपेंदी के लोटे हो। कभी इधर

लुढके कभी उधर। लोभ तुम्हें घुमाता रहता है। मैं लोभ के वश में नहीं हूँ। अपने पुराने को सदा अपने साथ रखूंगा। तुम मुझे समझाने की चेष्टा करके अपना ही उपहास न बनाओ।

फिर भी एक मित्र बोल ही पड़ा- अच्छा भाई, तुम ही सही हो, सो यह लोहा उठाये रखो, लेकिन एक बात तो हमारी भी मान लो। कम से कम एक रत्न तो हमारे कहने से ही रख लो।

इस बात को उसने अपनी पुरातन निष्ठा का अपमान समझा और वह बुरी तरह आग- बबूला हो उठा। क्रोध भी इतना कि वह उसी समय अपने साथियों से अलग होकर लोहे की गांठें उठाये वापिस अपने नगर की ओर चल दिया। उसकी हठ से खिन्न बने अन्य साथी कुछ देर वहाँ बैठे रहे। फिर उन्होंने भी अपने ही नगर पुनः लौट चलने का निश्चय किया।

रत्नों का भार उठाने वाले साथियों ने जब अपने कुछ ही रत्नों का विक्रय किया, तो उन्हें करोड़ों की मुद्राएँ प्राप्त हो गयीं, जिनसे उन्होंने अपने निवास हेतु बड़ी-बड़ी हवेलियाँ बना लीं तथा सुख-सुविधा के उत्कृष्टतम साधन एकत्रित कर लिये। इतना ही नहीं, कई नये-नये व्यवसाय भी उन्होंने शुरू कर दिये, जिनसे अपार धनार्जन होने लगा। वे नगर के सुसम्पन्न, गण्यमान्य और प्रतिष्ठित सार्थवाह हो गये तथा परम सुख के साथ जीवन व्यतीत करने लगे।

ग्रीष्म काल का कठिन समय था। सूरज तप रहा था और चारों ओर ऐसी गरम हवाएँ चल रही थीं कि पक्षी तक बाहर निकलने का साहस नहीं कर पा रहे थे। उन सम्पन्न मित्रों में से एक सार्थवाह अपनी हवेली की ऊपरी मंजिल में स्थित एक शीतल छायादार गवाक्ष में बैठे हुए अपनी धर्मपत्नी के साथ कुछ धार्मिक चर्चा कर रहे थे। तभी नीचे मार्ग पर एक व्यक्ति को चलते और चिल्लाते देखकर वे चौंक पड़े। ऐसी भीषण गर्मी में बाहर निकलनेवाला यह कौन दुःखी पुरुष हो सकता है? नीचे दृष्टि पहुँची, तो क्या देखते हैं कि एक फेरीवाला एक भारी गठरी सिर पर उठाये सामान बेचने के लिए चिल्ला-चिल्ला कर आवाज लगा रहा है।

उस फेरीवाले की दुर्दशा देखते नहीं बनती थी। बदन के वस्त्र फटे चिथड़ों जैसे, सिर एकदम उघाड़ा, गर्म रेत पर चलते हुए पाँवों में जूतियाँ नहीं और सारा शरीर पसीने से लथपथ। आँखों के गहरे गड्ढे देखकर ऐसे लगा, जैसे उनमें आँखें हैं भी या नहीं। सारा चेहरा दाढी-मूंछों के बेतरतीब बालों से ढका हुआ। उसे देख दारिद्रय की सजीव कल्पना जाग उठती थी। इसका मुख चिन्ताओं और पीड़ाओं से अति म्लान था।

सार्थवाह की दृष्टि अधिक गहरी और पैनी होती गयी, तो वर्षों से उनके हृदय के एक कोने में दबा-छिपा हुआ दुःख अकस्मात् ऊपर उभर आया, जब उन्होंने उस

दारिद्रयमूर्ति की पहिचान कर ली। वह उनका वही मित्र था, जो अन्त तक लौह धातु का ही भार उठाये रहा लौहवणिक्। एक मार्मिक वेदना से उनका हृदय पहले पीड़ित और फिर करुणापूर्वक विगलित हो उठा। सेवक को भेजकर तुरन्त उन्होंने उस फेरी वाले को अपने पास बुलवाया।

फेरीवाले के चेहरे पर पीड़ा की जगह प्रसन्नता की चमक खिल उठी कि इतनी बड़ी हवेली वाले ने उसे बुलवाया है, तो वह अवश्य ही उसका सारा सामान खरीद लेगा तथा उसका आज का श्रम सार्थक हो जायेगा।

आओ भाई ! सार्थवाह ने उसका स्वागत किया और प्रेमपूर्वक पूछा-जरा देखो, क्या तुम मुझे पहिचानते हो?

उसने देखने की कोई जरूरत नहीं समझी और कहा- मेरी और आपकी क्या समानता, जो आपको मैं पहिचानूँ? आप तो कृपा करके मेरा सारा सामान क्रय कर लीजिए, ताकि अपने पत्नी-पुत्रों के लिए कम से कम आज का भोजन तो जुटा लूँ।

अनायास ही सार्थवाह की आँखों से गरम गरम आँसुओं की धार ही बह चली। फेरीवाला विस्मय से आँखें फाड़फाड़ कर सार्थवाह को देखने लगा कि यह क्या हुआ? वह डरने भी लगा कि क्या उसी से तो कोई भूल नहीं हो गयी है? हतप्रभ सा वह जड़वत् वहीं खड़ा रहा।

सार्थवाह रुंधे हुए कंठ से बोलने लगा- मित्र ! तुम मुझे भूल गये, किन्तु मैं तुम्हें नहीं भूला हूँ। याद करो, व्यापार में सबकुछ खोकर हम साथ-साथ परदेश के लिए रवाना हुए थे और फिर खानों से हम रत्नों की गांठें लेकर लौटे थे, लेकिन तुम अन्त तक लोहे की गांठें ही ढोये रहे। परिणाम सामने है।

अब तो फूटने की बारी उस फेरीवाले की थी। वह धाड़ मारकर रो उठा और कहने लगा- मैं ही मूर्ख सिद्ध हुआ हूँ सो दरिद्रता का दारुण दुःख भुगत रहा हूँ। किसी भी बात को एकान्त रूप से पकड़ बैठना कोई बुद्धिमानी नहीं है।

सार्थवाह ने उसे धीरज बंधाया और पर्याप्त धन देकर वहाँ से विदा किया।

स्रोत- राजप्रश्नीय सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र।

सार- पुरानी परम्पराओं एवं पुराने विचारों के प्रति पूर्वाग्रह नही होना चाहिए, सत्य के नये-नये उन्मेषों को प्रत्यक्ष देखकर भी उनकी अवमानना करना वज्र मूर्खता है। सदा चिन्तन का आधार अनेकान्त रहना चाहिए।

❖ ❖ ❖

कैसी थी घोड़े की पीठ ?

मनुष्य-स्वभाव का यह भी एक पक्ष होता है कि जो काम न करने को कहा जाये, उसी को सबसे पहले करने की उसके मन में प्रबल उत्सुकता जागती है।

पुत्रों, बार-बार जोखिमभरी समुद्री यात्रा पर जाना ठीक नहीं है। जब तक तुम दोनों यात्रा पर रहते हो, तब तक हमारा तनिक भी जी नहीं लगता, बल्कि हर समय चिन्ताग्रस्त बने रहते हैं। ग्यारह समुद्र यात्राएँ तुम कर चुके हो, अब यह बारहवीं यात्रा स्थगित ही रखो, माकंदी सार्थवाह ने अपने पुत्रों को सुझाव दिया।

चम्पा नगरी में यह माकंदी सार्थवाह ऋद्धिसम्पन्न ही नहीं, सबसे बड़ा व्यापारी भी था। उसका व्यापार स्व-प्रदेश में ही नहीं, दूरस्थ प्रदेशों तथा समुद्रपार तक फैला हुआ था। उस सार्थवाह के दो युवा पुत्र थे- जिनपाल और जिनरक्ष। वे दोनों भी व्यवसाय-कुशल एवं साहसी थे। समुद्री-यात्राओं पर व्यापारिक सामग्री से भरपूर जहाज लेकर विदेशों में वे ही जाया करते थे। इस

विदेशी व्यापार से अपार सम्पदा उनके पास आती थी। लाभ के उपरान्त भी पुत्रवियोग एवं पुत्रचिन्ता से माता-पिता बहुत विक्षुब्ध रहा करते थे। यही कारण था कि माकंदी अपने दोनों पुत्रों को समुद्रयात्रा पर जाने से रोक रहा था।

पिताजी ! आप तो जानते हैं कि हमारे पास यह जो अपार सम्पदा है, वह समुद्र पार व्यापार से ही तो आयी है, फिर जोखिम झेले बिना लाभ भी तो कहाँ मिलता है? हकीकत तो यह है कि जोखिम जितनी ज्यादा, लाभ भी उतना ही ज्यादा और हमें जोखिम झेलते हुए बड़ी खुशी होती है। आप चिन्ता न करें और हमें जाने दें।

तुम सत्य कह रहे हो, वत्स ! परन्तु धन ही तो सब कुछ नहीं है। सम्पदा-प्राप्ति को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं मान लेना चाहिए। सारा परिवार एक साथ रहता है। उसमें प्रेम, सहयोग और शान्ति है, यह भी अपूर्व सुख होता है। फिर अपार सम्पदा का करेंगे भी क्या, खायेंगे तो रोटी ही न? माकंदी सेठ ने अपने पुत्रों को जीवन के अन्य मूल्यों के विषय में जानकारी दी। त्याग और संयम की उच्चता उसने बतायी।

दोनों पुत्रों को भी यह बात समझ में आयी, उन्होंने कहा- इस बारहवीं यात्रा की तो सभी तैयारियाँ हो चुकी हैं। अतः अभी तो हमें जाने दीजिए, आगे से समुद्रयात्रा नहीं करेंगे। इसे हमारी अन्तिम यात्रा समझिए।

माता-पिता विवश थे। उन्हें उस यात्रा की धड़कते

हुए दिल से अनुमति देनी ही पड़ी। जिनपाल और जिनरक्ष का विशाल जलयान समुद्र की छाती पर तैरने लगा।

कई लोगों ने अपने जीवन में कई बार ऐसा अनुभव लिया होगा कि हमारे ज्येष्ठ पुरुष कोई काम करने के लिए किसी भी कारण से मना करते हैं, तो शायद उसके पीछे कोई अजाना रहस्य रहा हुआ होता है। इसी कारण हमारे संस्कारों की परम्परा रही है कि हम अपने वृद्धजनों के कथन को आज्ञा मानकर चलते हैं। अतः यह भी देखा जाता है कि जो अपने बडीलों की आज्ञा की उपेक्षा या अवमानना कर देते हैं तो कई बार उसका दुष्परिणाम भी उन्हें भुगतना पड़ता है।

माकंदी सार्थवाह और उनकी धर्मपत्नी अपने पुत्रों का अहित नहीं चाहते थे और जिनपाल व जिनरक्ष आज्ञाकारी नहीं हों, ऐसी भी बात नहीं थी। माता-पिता की ममता एक ओर थी और पुत्रों का साहस दूसरी ओर तथा पुत्रों ने अपने साहस को वरीयता दी, इतना मात्र ही उनका दोष था, लेकिन प्रकृति की मंशा कुछ दूसरी ही थी। भूमि से बहुत दूर जब समुद्र के मध्य में जहाज चल रहा था तब अचानक भयंकर तूफान उठा और वह कई दिनों तक चलता रहा। चालकों का जहाज पर से नियंत्रण छूट गया और अन्ततः जहाज टुकड़े-टुकड़े होकर समुद्र की छाती में समा गया।

जीवन की क्षीण आशा में दोनों भाई जिनपाल और जिनरक्ष तूफान के उन थपेड़ों से जूझते रहे तथा

डूबते-उतराते उन सर्वभक्षिणी लहरों पर तैरते रहे। सौभाग्य से उन्हें जहाज का टूटा हुआ कोई काष्ठखंड (पाटिया) मिल गया जिस पर वे दोनों बैठ गये और वायु के प्रवाह में डोलते हुए आगे बढ़ने लगे। आखिर उनका वह काष्ठखंड एक दिन एक अज्ञात द्वीप पर जा लगा। वे भूमि पर उतरे, परन्तु उस द्वीप पर मनुष्यों के रहने का कोई लक्षण उन्हें नहीं दिखायी दिया। वे द्वीप के भीतर आगे बढे। तब वृक्षों के झुरमुट में छिपे एक महल पर उनकी दृष्टि पड़ी। वे उस महल की ओर आशा लेकर चलने लगे।

महल के प्रवेशद्वार की देहरी पर ज्यों ही उनके पाँव पड़े कि एक तेज प्रकाश-सा हुआ और उसमें उन्हें एक देवी दिखायी दी, जो उन्हें ही सम्बोधित कर रही थी-

ओ नवागन्तुक मनुष्यों ! यह रत्नद्वीप है और उसकी स्वामिनी मैं रयणादेवी हूँ। समुद्री तूफानों के संकटग्रस्त लोगों को मैं शरण देती रहती हूँ, मगर मेरी एक शर्त है। यदि तुम मेरे महल में रहो, सुखपूर्ण सामग्री का उपभोग करो, तो मुझे काम-भोगों से तृप्त रखना होगा, अन्यथा मैं तुम्हें जीवित नहीं छोडूँगी। यदि मेरी शर्त मंजूर हो, तो महल के भीतर चले आओ, सभी प्रकार की सुख-सुविधाएँ वहाँ मौजूद हैं।

फिर वह देवी अदृश्य हो गयी। दोनों भाइयों ने सोचा कि देवी की शर्त माने बिना जीवन का और कोई उपाय नहीं है। उनके पाँव महल के भीतर प्रविष्ट हो गये।

रयणादेवी के महल में रहते हुए जिनपाल और जिनरक्ष को काफी समय हो गया, परन्तु उस कारागार से मुक्तहोने की उन्हें कोई राह नहीं दिखायी दी। यह रत्नद्वीप कहाँ है और इस द्वीप से उनकी चम्पानगरी किस दिशा में होगी, इसका उन्हें कोई ज्ञान न हो सका। वह ज्ञान हो भी जाता, तब भी अपने घर पहुँचने का साधन कहाँ था? लेकिन सबसे बड़ी बात तो यही थी कि इस दुष्ट देवी के चंगुल से वे कैसे निकलें?

दोनों भाई ऐसी ही चिन्ताओं के जंगल में भटक रहे थे, तभी प्रेम की मूर्ति बनी वह रयणादेवी वहाँ आयी और उनसे बोली- मुझे मेरे अधिष्ठायक देव ने विशिष्ट सेवा हेतु बुलवाया है। अतः कुछ दिनों तुम्हें यहाँ अकेले रहना होगा। क्या करूँ, मेरी भी विवशता है? तुम किसी प्रकार का कष्ट मत देखना और चारों ओर वन-खंडों का भ्रमण करने में अपना समय सुखपूर्वक व्यतीत करना। हाँ, मैं तुम्हें सावधानी दिला दूँ कि पूर्व, पश्चिम व उत्तर खंडों में निर्भय होकर घूमना, लेकिन भूलकर भी दक्षिण दिशा के वनखंड में न जाना। वहाँ एक भयंकर विषधर रहता है, जो तुम्हारे प्राणों को ही हर लेगा। इतना कहकर वह देवी रत्नद्वीप से बाहर अपने गंतव्य को चली गई।

मनुष्य-स्वभाव का यह भी एक पक्ष होता है कि जो काम न करने को कहा जाये, उसी को सबसे पहले करने की उसके मन में प्रबल उत्सुकता जागती है। ऐसा

ही उन दोनों भाइयों के साथ हुआ। दोनों साहसी थे और जोखिम से डरते नहीं थे, इसलिए देवी के जाते ही सर्वप्रथम उन्होंने दक्षिण के वनखंड का अवलोकन एवं भ्रमण करने का निश्चय किया।

यह क्या? इतनी असह्य दुर्गंध इस दक्षिण वनखंड से क्यों आ रही है? दोनों भाइयों को कुछ समझ में नहीं आया, पर प्रबल उत्सुकता जो थी, वे कठिनाई देखकर भी आगे बढते रहे। अभी तक तो नाक को ही कष्ट हो रहा था, किन्तु आगे चलकर आंखें भारी सन्नाटे में फँस गयी। सैकड़ों मनुष्यों की हड्डियों का ढेर लगा हुआ था और वह दुर्गंध वहीं से फूट रही थी। कुछ आगे बढने पर उन्हें एक दारुण दृश्य दिखायी दिया। एक कृशकाय मनुष्य सूली पर लटका हुआ था और उसके प्राण-पखेरू उड़ने ही वाले थे। लेकिन अपने सामने दो मनुष्यों को खड़े देखकर जैसे उसमें एक नयी शक्ति का संचार हो गया और वह मंद स्वर में उन दोनों भाइयों से कहने लगा-

मेरे प्यारे भाई ! क्या तुम भी इस दुष्ट देवी के जाल में फंस गये हो? यह शीघ्र ही तुम्हारे स्वस्थ, सुडौल और सुन्दर शरीरों को खोखला कर देगी। ठीक मेरे इस शरीर की तरह एवं तब तुम्हारा भी यही स्थान होगा, जहाँ आज मैं लटक रहा हूँ।

यह सुनकर तो दोनों भाइयों के होश ही गायब

हो गये और वे समझ गये कि देवी ने उन्हें इस वनखंड में आने से मना क्यों किया था। भयंकर विषधर की बात झूठी थी। भयातंकित होते हुए उन्होंने सूली पर लटके हुए उस मनुष्य से ही पूछा- क्यों भाई ! क्या इस दुर्दशा से बचने का कोई उपाय नहीं है?

है, मेरे भाइयों ! अवश्य है, और मरते-मरते मैं यही शुभ कार्य कर लेना चाहता हूँ। तो ध्यान से सुनो- पूर्व दिशा के वनखंड में शैलक नाम का एक यक्ष रहता है, जाकर उसी की स्तुति करो, वही तुम्हें इस कष्टदायक मरण से बचा सकता है। मुझे इसकी जानकारी समय पर नहीं हो सकी । अतः मैं अपनी प्राणरक्षा नहीं कर सका।

भाई ! आप इस दुष्टा के चंगुल में कैसे फंस गये?

मैं माकंदी नगरी का निवासी घोड़ों का व्यापारी हूँ। मेरा व्यापार समुद्र पार चलता था। जहाज तूफान में फँस गया और डूब गया। यही द्वीप मुझे बचने को मिला, देवी के जाल में फंसना अनिवार्य ही था। मेरे शरीर को निचोड़कर उसने मेरी यह दशा कर दी है। क्या तुम्हारा भी यही हाल हुआ?

हाँ भाई ! हम चम्पानगरी के व्यापारी हैं और जहाज के डूब जाने से ही यहाँ पहुँचे हैं। आपने हमें यक्ष की जानकारी देकर हमारे ऊपर असीम उपकार किया है। हम आपकी आत्मा की शान्ति चाहते हैं।

बचे हुए समय के मूल्य को समझते हुए वे दोनों भाई तुरन्त पूर्व दिशा के वन-खंड में पहुँचे और यक्ष की स्तुति करने लगे। यक्ष प्रकट हुआ और अपनी गरजती हुई आवाज में बोला- मैं तुम्हारी उस दुष्ट देवी से प्राण रक्षा करके तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर अपनी देवमाया से पहुँचा सकता हूँ। मैं एक सुदर्शनीय घोड़े का रूप धारण करूँगा, तुम दोनों मेरी पीठ पर बैठ जाओगे। परन्तु एक चेतावनी स्पष्ट रूप से समझ लो। वह देवी मेरे इस कार्य को अपने अवधि ज्ञान से जान लेगी और पीछे-पीछे भागेगी, अनेक लुभावने रूप बनायेगी, करुणाजनक विलाप करेगी या नाना भांति के भय दिखायेगी, पर तुम्हें घोड़े की पीठ पर मजबूती से बैठे रहना होगा। उसके साथ भुक्तकाम-भोगों के प्रति जिसने जरा-सी भी आसक्ति दिखायी या द्रवित होकर पीछे देखा, उसे उसी समय मैं अपनी पीठ से नीचे गिरा दूँगा। मेरी पीठ विरक्ति की पीठ है, आसक्ति की नहीं।

हम पूरी दृढता से बैठे रहेंगे, आप विचार न करें। किसी प्रकार हमारी प्राणरक्षा हो जाये, हमारे माता-पिता हमारे वियोग में न जाने कितना घोर कष्ट पा रहे होंगे ? दोनों भाइयों ने उस यक्ष से याचनाभरा निवेदन किया। यक्ष ने 'तथास्तु' कहा और वह एक पुष्ट घोड़ा बन गया। दोनों भाई उस पर सवार हो गये और वह घोड़ा पंख लगे हो, उस तरह उस समुद्र के ऊपर उड़ने लगा। वास्तव में वह घटना देवी ने अपने ज्ञान में देख ली और उस घोड़े

के पीछे-पीछे अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखाते हुए अनुकूल प्रतिकूल वचन कहने लगी जिससे कि भोगे हुए काम-भोगों की मोह माया उन भाइयों के मन में पुनः जाग उठे। वह मायायुक्तदेवी और उसके असरदार हावभावों का क्या कहना? जिनपाल तो दृढ़ बना बैठा रहा, किन्तु जिनरक्ष का दिल थोड़ा-सा मुलायम हो गया। आखिर वह इतने समय तक अंकशायिनी जो रही। अनायास उसकी दृष्टि पीछे घूम गयी। उसकी दृष्टि क्या घूमी कि घोड़े की पीठ ही घूम गयी। वह समुद्र की ओर फेंक दिया गया, उसे उस दुष्ट देवी ने भालों में पिरो दिया। वह घोर वेदना के साथ मरण को प्राप्त हुआ।

जिनपाल को यक्ष ने यथास्थान पहुँचा दिया और पुनः लौट गया। माता-पिता को जिनपाल ने सारा वृत्तान्त सुनाया और जिनरक्ष की मृत्यु की बात कही, इस सत्य के साथ कि घोड़े की वह पीठ विरक्ति की पीठ थी, आसक्ति की नहीं।

स्रोत- ज्ञाता धर्म कथा सूत्र।

सार- त्यक्त काम-भोगों की वांछा नहीं करने से श्रमण संसार समुद्र को पार कर लेता है अन्यथा जिनरक्ष की दशा को प्राप्त होता है।

❖ ❖ ❖

आप भी अनाथ तो नहीं

मुनि के मुखमंडल पर एक रहस्यभरी मुस्कान फैल गयी। वे बोले- हे श्रेणिक ! तू स्वयं भी अनाथ है। फिर एक अनाथ दूसरे अनाथ का नाथ कैसे हो सकता है?

ओहो ! क्या देदीप्यमान मुखमुद्रा है, भव्य विशाल ललाट है और कान्तिमान देह-दीप्ति है ! इस उभरती हुई तरुणाई में आखिर ये मुनि क्यों बने हैं? और मुनि बनकर भी इन्होंने ऐसी अपूर्व सौम्यता, क्षमा, निर्लोभता आदि आत्मिक गुणों की प्राप्ति कैसे कर ली? इस वय में भोगों से निवृति ही कठोर त्याग है, तो आत्मस्वरूप की ऐसी उज्ज्वलता के ये तरूण योगी स्वामी कैसे हो गये हैं? मैं तो इनके दर्शन कर धन्य हो गया- यह भावभरी विचारणा मगध देश के महाराजा श्रेणिक के मन में उदित हुई, जब उन्होंने मंडितकुक्षि नामक उद्यान में इन ध्यानस्थ तरुण मुनि की दिव्य मूर्ति देखी। ऐसा शारीरिक रूप और आत्मिक स्वरूप का अनुपम संगम मुश्किल से ही देखने को मिलता है। महाराजा श्रेणिक भी

वन-विहार करने निकले थे, सो इन ध्यानस्थ मुनि के अद्वितीय प्रभाव से प्रभावित होकर इस उद्यान में पहुँच गये।

वे श्रेणिक मुनि के ध्यान के समाप्त होने की प्रतीक्षा करने लगे। ज्यों-ही मुनि चल-विचल दिखायी दिये, वे उनके समीप पहुँचे और भक्ति पूर्वक वन्दना-नमस्कार करके मुनि के समक्ष बैठ गये।

करबद्ध होकर श्रेणिक ने विनयपूर्वक मुनि से पृच्छा की- हे आर्य ! भोग-विलास में ही आनन्द माननेवाली इस तरुणावस्था में ऐसा क्या हेतु रहा कि आपने दीक्षा अंगीकार कर ली? इस वय में संसार से मुख मोड़कर संयम के कठोर व्रत को धारण कर लेना किसी विशेष कारण के बिना संभव नहीं होता है। क्या आप कृपा करके वह विशेष कारण मुझे बतायेंगे?

मुनि ने सहज भाव से उत्तर दिया- हे राजन ! मैं अनाथ हूँ। न कोई मेरा रक्षक है, न कृपालु मित्र। इसी कारण से मैंने मुनिव्रत ग्रहण किया है।

यह सुन महाराजा श्रेणिक स्तंभित हो गये, इतना प्रभावपूर्ण व्यक्तित्व और उसे कोई स्वामी नहीं मिला। उसे हँसी भी आयी कि ऐसा समृद्धिशाली पुरुष अपने आपको अनाथ मानता है और अपनी राज्य व्यवस्था के प्रति चिन्ता का भाव भी उभरा कि वहाँ ऐसी क्या त्रुटि है, जो मुझ जैसे नाथ (स्वामी) के होते हुए भी इस तेजस्वी योगी ने अपने आप को अनाथ माना?

मगधपति ने भी उतने ही सहज भाव से कह

दिया- आप अपने आपको अनाथ क्यों मानते हैं ? राजा की हैसियत से मैं जो हूँ। मुझे रक्षक, सहायक, मित्र और नाथ सब कुछ समझिए तथा आप सर्वभोगों को भोगते हुए मेरे साथ राजप्रासाद में निश्चिन्त होकर रहिए।

मुनि के मुखमंडल पर एक रहस्यभरी मुस्कान फैल गयी। वे बोले- हे श्रेणिक ! तू स्वयं भी अनाथ है। फिर एक अनाथ दूसरे अनाथ का नाथ कैसे हो सकता है?

राजा तो जैसे आकाश से धरती पर आ गिरा- ये तरुण योगी उसे यह क्या कह रहे हैं? वह नाथों का नाथ होकर भी अनाथ है- यह कैसा कथन है इन मुनि का? अपने लिए ऐसी बात उन्होंने पहले कभी नहीं सुनी थी, अतः श्रेणिक व्याकुल भी हुआ और संशयग्रस्त भी, शायद मुनि ही भूल कर रहे हो ? वे कहने लगे- मुनिवर ! शायद आप नहीं जानते कि मैं कितने विशाल साम्राज्य, अखूट सम्पदा, चतुरंगिणी सेना और अनुपम ऐश्वर्य का स्वामी हूँ। इतना होने पर भी आप मुझे अनाथ कहें- कहीं यह आपका असत्य भाषण तो नहीं?

मुनि गंभीरता से बोले- राजन ! तुम्हारे संशय का यही कारण है कि तू अनाथ और सनाथ के भेद को नहीं समझता है। तो सुन, मैं कैसा अनाथ था और मुझे अपनी अनाथता का ज्ञान किस प्रकार हुआ- मेरे पिता प्रभूतधन संचय कर कोशांबी नगरी में रहते थे। एक समय मुझे नेत्र की अपार पीड़ा पैदा हुई और उसी पीड़ा से दाहज्वर भी हो गया। जैसे क्रुद्ध शत्रु मर्मस्थानों पर

अति तीक्ष्ण अस्त्रों द्वारा प्रहार कर घोर वेदना पहुँचाता है, वैसी ही असह्य वेदना मेरी आंखों में हो रही थी और उससे कमर, मस्तक व हृदय अतुल पीड़ा से झनझना रहे थे।

मेरे पिताजी के पास अपार सम्पदा थी और वे मेरे सुस्वास्थ्य के लिए सम्पूर्ण सम्पदा न्यौछावर करने को तत्पर थे। वैद्य, जड़ी, बूटी, मंत्र, तंत्र आदि में पारंगत चिकित्सकों ने मुझे स्वस्थ बनाने के भरसक प्रयास किये, पर तनिक भी लाभ नहीं हुआ।

सुनो राजन ! अपार स्नेह होने के उपरान्त भी मेरे पिता मुझे कष्टमुक्त करने में असमर्थ रहे। मेरी माता की मेरे लिए व्याकुलता देखी नहीं जाती थी, किन्तु उससे भी मेरा दुःख दूर न हो सका। मेरे छोटे बड़े भाई थे, बहनें थीं- वे भी मेरी वेदना को कम न कर सकीं। यहाँ तक कि मुझ पर अतीव प्रेम रखनेवाली मेरी धर्मपत्नी ने सर्व शृंगार क त्याग कर दिया और अहर्निश मेरी सेवा में जुटी रही एवं अपने आँसुओं से मेरे हृदय को सींचती रही, परन्तु मेरी पीड़ा का अनुभव वैसा का वैसा रहा।

यदि मुझे मेरे सारे स्वजन, स्नेही और कुटुम्बी उस दारुण दुःख से मुक्तन कर पाये, तो इसे मेरी अनाथता ही तो मानी जायेगी? कोई मेरा नाथ (रक्षक) होता, तो उस भीषण वेदना से मेरी रक्षा अवश्य करता।

ज्यों-ज्यों रात्रि गहराती जा रही थी, मेरी नेत्रपीड़ा एवं दाहज्वर की वेदना तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होती जा रही

थी और कोई मुझे उससे बचा नहीं पा रहा था। तब मेरी आन्तरिक चिन्तनधारा बहने लगी- यह तो एक प्रकार की पीड़ा है और संसार में अनेकानेक प्रकार की पीड़ाएँ होती रहती हैं, तो क्या पीड़ा- मुक्ति का यह सफल उपाय नहीं हो सकता कि मैं संसार ही को त्याग दूँ? मुझे अपनी अनाथता अखरने लगी और मेरा संकल्प बनने लगा कि मैं छः काया के सभी जीवों का रक्षक बन कर सनाथ क्यों न हो जाऊँ?

हे मगधपति ! उसी समय मैंने दृढ निश्चय कर लिया कि यदि यह मेरी दारुण वेदना शान्त हो जायेगी, तो मैं प्रातःकाल क्षान्त, दान्त और निरारंभी होकर साधु बन जाऊँगा। और क्या चमत्कार हुआ कि ज्यों-ज्यों रात्रि व्यतीत होती गयी, त्यों-त्यों मेरी वेदना भी क्षीण होती गयी तथा सूर्योदय के साथ तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे मैं पूर्ण रूप से निरोग हो गया हूँ।

और इस प्रकार राजन् ! मैं अनाथ से सनाथ हो गया। मैं तुम्हें अपनी अनुभूति बताऊँ कि यह आत्मा ही आत्मा के लिए शत्रु सम वैतरणी नदी है और यह मित्रसम कामधेनु रूप है। अपने सुख-दुःख को करने और भोगनेवाली अपनी ही आत्मा है। कुमार्ग पर चले, तो मिलता है दुःख और सुमार्ग पर चले, तो सुख।

हे देवानुप्रिय, यह है मेरी अनाथता की कहानी। अब बताओ, तुम स्वयं को क्या कहना चाहोगे सनाथ या अनाथ?

राजा श्रेणिक कोई उत्तर न दे पाये। पहले जो कुछ कहा था, उसके संदर्भ में एकदम अपने को अनाथ कैसे कह दें और सब कुछ समझ सनाथ कहने का तो साहस ही न रहा।

अनाथी मुनि ने अपने विश्लेषण का उपसंहार करते हुए कहा- राजन ! कोई साधु बन जाने से ही सनाथ हो जाता है, ऐसा भी नहीं है। निर्ग्रंथ धर्म को अंगीकार करने के बाद जो परिषहों एवं उपसर्गों से विचलित हो जाते हैं एवं साधु-धर्म का सम्यक् पालन त्याग देते हैं, वह भी अन्य प्रकार की अनाथता ही है। साधुधर्म का जो सर्वथा दृढतापूर्वक सर्वदा पालन करता रहता है, वही यथार्थ में सनाथ कहलाता है। सच्ची साधुता में सनाथता है- आदर्श त्याग में सनाथता है। इसके विपरीत भोगों में आसक्तहोना अनाथता है, इच्छाओं एवं वासनाओं की पराधीनता में अनाथता है। अतः अनाथ से सनाथ होना ही जीवन का लक्ष्य कहा जायगा।

मुनि का धर्मोपदेश सुनकर नरसिंह श्रेणिक साधुसिंह अनाथी मुनि का परम भक्त हो गया।

कभी सोचिए-क्या आप भी कहीं अनाथ तो नहीं?

स्रोत- उत्तराध्ययन सूत्र।

सार- स्वयं को अरक्षित अनुभव करना अनाथता है और सर्व जीवों का रक्षक ही सनाथ होता है। ❖ ❖ ❖

अपने बोये हुए कांटे

अपने ही बोये हुए कांटों से कोई भी जीव किस सीमा तक उन कांटों की चुभन, छेदन और प्रतारणा प्राप्त करता है। कर्म बांधते हुए तो वह नहीं सोचता, पर कर्मो का भोग करते हुए उसकी कैसी दुरवस्था होती है?

भगवन ! अभी आपकी धर्म-देशना में एक अतीव कष्टपीड़ित व्यक्तिआया- जन्मांध, शरीर से फूटती हुई घोर दुर्गंध और चारों ओर भिनभिनाती हुई मक्खियाँ। उसे एक सचक्षु व्यक्ति लकड़ी पकड़वाकर लाया था। दीन वृत्ति से भिक्षा मांगकर अपनी आजीविका चलानेवाला वह अंध पुरुष अपार वेदना को भोग रहा था। क्या ऐसा कोई कष्ट पीड़ित अन्य व्यक्तिभी इस मृगाग्राम में मौजूद है?- गौतम स्वामी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की।

हाँ गौतम ! है और इससे भी अधिक वेदना को भोगता हुआ प्राणी इसी मृगाग्राम में है। वह है यहाँ के राजा विजय और रानी मृगावती का पुत्र, जो जन्म से

अंध, बधिर, मूक और पंगु है। उसका नाम मृगापुत्र है। जन्म से ही उसके नाक, कान आदि नहीं थे केवल उनके चिह्न मात्र थे। मृगादेवी उसे भूमिगृह (तहखाने) में छिपाकर रखती है और स्वयं ही जाकर उसे भोजन-पानी देती है। उसकी शरीर-दशा अतीव दयनीय है।

प्रभु ! मैं स्वयं जाकर उसे प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ और जानना चाहता हूँ कि अपने ही बोये हुए कांटों से कोई भी जीव किस सीमा तक उन कांटों की चुभन, छेदन और प्रतारणा प्राप्त करता है। कर्म बांधते हुए तो वह नहीं सोचता, पर कर्मों का भोग करते हुए उसकी कैसी दुरवस्था होती है?

प्रभु से आज्ञा पाकर गौतम रानी मृगादेवी के पास पहुँचे और उससे अपने पुत्र को दिखाने की इच्छा व्यक्त करने लगे। रानी ने अपने चार सुन्दर पुत्रों को बुलवाया, जो मृगापुत्र के बाद जन्मे थे। गौतम स्वामी ने कहा- देवी ! मैं तुम्हारे इन पुत्रों को नहीं, भूमिगृह में पड़े हुए तुम्हारे सर्वांग विकल पुत्र को देखने के लिए आया हूँ। तब भोजन की वेला हो जाने से एक छोटी गाड़ी में बहुत सारा स्वादिष्ट भोजन-पानी लेकर रानी उस भूमिगृह की ओर चली और उसने गौतम स्वामी को अपने साथ आने का अनुरोध किया। भूमिगृह के पास आकर रानी ने कई सुगंधित पदार्थों का छिड़काव किया, क्योंकि भूमिगृह का द्वार खोलते ही ऐसी भयंकर दुर्गंध फूटी, जो किसी

सड़े हुए मृत शरीर से फूटती है। वहीं से रानी ने वह सारा भोजन पानी भीतर रखा, जिसे वह मृगापुत्र शीघ्र ही खा-पी गया और तत्क्षण वही भोजन-पानी विकृत हो पीप (राँध) रूप में परिवर्तित होकर उसके शरीर से बहने लगा।

गौतम उसकी ऐसी घोर वेदना को देखकर चिन्तन करने लगे- मैंने नरक में घोर वेदना भोगने वाले नैरयिक जीव को तो नहीं देखा है, किन्तु यह मृगापुत्र साक्षात् नरक जैसा अपार दुःख भोग रहा है। उनकी यह जानने की तीव्र उत्कंठा जागृत हुई कि ऐसी घातक चुभन वाले कांटों की उत्पत्ति के क्या कारण हो सकते हैं ? वे वहाँ से चल दिये।

पुनः भगवान महावीर के समीप पहुँच गौतम स्वामी ने सविनय निवेदन किया- प्रभु ! मैंने मृगामुत्र को देखा। प्रत्यक्ष रूप से वह नरक का ही दुःख वहाँ भोग रहा है। मेरी यह जानने की इच्छा हुई है कि पूर्वभव में इस जीव ने ऐसे कौनसे पाप-कर्मों का उपार्जन किया, जो उसकी ऐसी प्राणघातक पीड़ा उसे अब भुगतनी पड़ रही है?

इसे सुनो, गौतम ! यह मृगापुत्र पूर्व जन्म में इकाई राठौड़ नामका देशाधिकारी ठाकुर था। वह विजयवर्धमान नामक खेड़े का रहने वाला था। यह खेड़ा शतद्वार नामक नगर के राजा धनपति के क्षेत्राधिकार में

था। राठौड़ ठाकुर पाँच सौ गाँवों का अधिपति था। वह इन गाँवों की प्रजा पर नानाविध अत्याचार करता था। कर तो वह लोगों से अत्यन्त अन्यायपूर्ण लेता ही था, परन्तु उन्हें अनेक प्रकार से दुःखित भी करता था, जैसे एक का अपराध दूसरे के सिर पर डाल उसे बुरी तरह सताता था, चोरों को गुप्त सहायता देकर गाँव के गाँव लुटवा या जलवा देता था आदि। उसके आतंक से लोग थर-थर कांपते थे।

गौतम ! उसी इकाई राठौड़ के शरीर में एक समय श्वास, खांसी, ज्वर, दाह, भगन्दर, अर्श आदि सोलहों रोग एक साथ उत्पन्न हुए। तब उसने यह घोषणा करवायी कि जो कोई वैद्य उसके सोलहों रोग में से किसी एक रोग को भी अच्छा कर देगा, उसे वह बहुत धन देगा। इस घोषणा से कई वैद्य आये और उन्होंने अपने चिकित्सा-प्रयोग किये, परन्तु कोई उसके किसी एक रोग को भी शान्त करने में समर्थ नहीं हो सका। वहाँ प्रबल वेदना से पीड़ित वह इकाई राठौड़ मरकर रत्नप्रभा नरक में एक सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिक के रूप में जन्मा। वहीं से निकलकर वह जीव मृगावती रानी की कुक्षि से मृगापुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। उसके गर्भ में आते ही रानी को बहुत अशुभ स्वप्न दिखा- उससे भयभीत होकर रानी ने गर्भ को सड़ाने, गलाने आदि के लिए कई कटुक औषधियाँ खायीं, पर वह गर्भ न गिरा,

न सड़ा न गला। गर्भ में ही मृगापुत्र को भस्माग्नि रोग हो गया, जिससे जो भी वह खाता-पीता, वह उसी समय पीप-राँध में बदलकर निकल जाता। जन्म से ही वह मांस की लोथ के समान और अंगविहीन था। प्रथम सन्तान नष्ट न हो व अपकीर्ति न फैले, इस दृष्टि से पति के निर्देशानुसार रानी ने गुप्त रूप से उसे भूमिगृह में रखवा दिया। तुम ने देखा ही है कि रानी उसका किस प्रकार पोषण कर रही है?

भगवन ! लोमहर्षक अत्याचारों का ही यह भीषण कष्टों के रूप में क्या लोमहर्षक पीड़ामय कुफल मिला है इस जीव को? कृपा करके बतायें कि यह जीव यहाँ से अपनी आयु समाप्त कर पुनर्जन्म में कहाँ जायेगा और इसकी आगे कैसी गति होगी?

गौतम ! यह भी सुन लो। यहाँ छब्बीस वर्ष की आयु समाप्त करके मृगापुत्र का जीव वैताढ्य पर्वत पर सिंह रूप में पैदा होगा। वहाँ भी यह अपनी घोर अधार्मिकता और पापिष्ठ क्रूरता से बहुत पाप-कर्मों का उपार्जन कर पुनः नारकी में जायेगा। वहाँ से पशु-पक्षियों के व नरकों के जन्म धारण करता हुआ एक-एक योनि में अनेक लाख बार जन्म-मरण करेगा। तदनन्तर सुप्रतिष्ठ नगर के एक श्रेष्ठि के वहाँ पुत्र रूप में जन्म लेगा। वहाँ उसे धर्मश्रवण का सुअवसर प्राप्त होगा और दीक्षा लेकर वह अनेक वर्षों तक दीक्षा पर्याय का सम्यक् रीति से

पालन करेगा। वहाँ से देवलोक में जन्म लेगा। फिर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य जन्म पा दीक्षित होगा एवं कठोर संयम एवं तपस्या का आचरण करके सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

भगवान ! क्या अपने बोये हुए कांटे इतने दीर्घ काल तक जीव को छेदते-भेदते और ऐसी पीड़ा पहुँचाते रहते हैं?

हाँ गौतम ! अशुभ से अशुभ उत्पन्न होता रहता है और बढता रहता है। जब तक अशुभ के विस्तार पर रोक नहीं लगती, शुभ का अंकुरण कठिन होता है। यदि शुभ का अंकुर फूट जाये, सावधानी से पौधा बन जाय और पुरुषार्थ से वह वृक्ष का आकार ले ले, तो अशुभ नष्ट होता जाता है और शुभ अपूर्ण से पूर्ण होता जाता है।

'तहत्' प्रभु संसारी जीवों को यही तो समझना चाहिए।

स्रोत- विपाक सूत्र।

सार- कर्मों के दुःखमय विपाक को झेलना और उसके व्यूह से निकलना कठिन होता है।

❖ ❖ ❖